विवेक-ज्योति

वर्ष ४१ अंक ७ जुलाई २००३ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
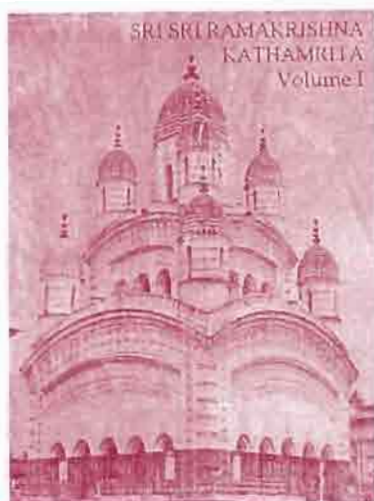
RECENTLY RELEASED

Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

VOLUME I

in English

A word for word translation of original Bengali edition. Available as hardbound copy at subsidized price, **for Rs. 150.00 each.**

Also available:

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** — Vol. I to V — Rs. 275 per set

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali which were first published at Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. These are word for word translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 825 per set

  In this series of 16 volumes the reader is brought in close touch with the life and teachings of Sri Ramakrishna family: Thakur, Swamiji, Holy Mother, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. And there is the elucidation according to Sri Ramakrishna's line of thought, of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures. The third speciality of this work is the ***commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by the author himself.***

ENGLISH SECTION

- M., the Apostle & the Evangelist — Vol. I to X — Rs. 900.00 per set
  (English version of Sri Ma Darshan)
- Sri Sri Ramakrishna Kathamrita Centenary Memorial — Rs. 100.00
- Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita — Rs. 150.00
- A Short Life of M. — Rs. 25.00

For enquiries please contact:

SRI MA TRUST
Sri Ramakrishna Sri Ma Prakashan Trust
579, Sector 18-B, Chandigarh - 160 018 India
Phone: 91-172-77 44 60
email: SriMaTrust@bigfoot.com

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जुलाई २००३

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४१
अंक ७

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – ९

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

श्रीरामकृष्ण – योगियों का मन सदा ईश्वर में लगा रहता है – सदा आत्मस्थ रहता है। शून्य दृष्टि, देखते ही उनकी अवस्था सूचित हो जाती है। समझ में आ जाता है कि चिड़िया अण्डे को से रही है। सारा मन अण्डे ही की ओर है, ऊपर दृष्टि तो नाममात्र की है। अच्छा, ऐसा चित्र क्या मुझे दिखा सकते हो?

मणि – जैसी आज्ञा। चेष्टा करूँगा यदि कहीं मिल जाय।

नीति-शतकम्

नेता यस्य बृहस्पतिः प्रहरणं वज्रं सुराः सैनिकाः
स्वर्गो दुर्गमनुग्रहः किल हरेरैरावतो वारणः ।
इत्यैश्वर्यबलान्वितोऽपि बलभिद् भग्नः परैः सङ्गरे
तद् व्यक्तं ननु दैवमेव शरणं धिग् धिग् वृथा पौरुषम् ।।८८।।

अन्वयः – यस्य बृहस्पतिः नेता, वज्रं प्रहरणं, सुराः सैनिकाः, स्वर्गः दुर्गम्, हरेः अनुग्रहः, ऐरावतः वारणः (आसीत) किलः – इति ऐश्वर्य-बलान्वितः अपि बलभित् सङ्गरे परैः भग्नः । तत् व्यक्तम्, ननु दैवम् एव शरणम्, वृथा पौरुषं धिक् धिक् ।

भावार्थ – देवगुरु बृहस्पति जिनके नायक हैं, वज्र जिनका अस्त्र है, देवगण जिनके सैनिक हैं, स्वर्गलोग जिनका किला है, जिन पर भगवान विष्णु की कृपा है और ऐरावत हाथी जिनका वाहन है – इतने ऐश्वर्यों तथा बलों से युक्त होकर भी इन्द्र जब युद्ध में असुरों से हार गये, तो स्पष्ट है कि केवल दैव या भाग्य ही रक्षक है और व्यर्थ के पुरुषार्थ को धिक्कार है।

कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथाऽपि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ।।८९।।

अन्वयः – (यद्यपि) पुंसां कर्मायत्तम् फलं (भवति), कर्मानुसारिणी बुद्धिः (भवति), तथापि सुधिया सुविचार्य एव कुर्वता भाव्यम् ।

भावार्थ – यद्यपि व्यक्ति को (सुख-दुख आदि) फलों की प्राप्ति पूर्वकर्मों के अनुसार होती है, और उनकी बुद्धि भी कर्मों के अनुसार ही चलती है, तथापि बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि वह सभी कार्यों को भलीभाँति विचार करके ही सम्पन्न करे।

– भर्तृहरि

आत्म-प्रबोध

भाई यदि चाहो हित अपना, तो धीरज रखकर बात सुनो ।
है स्पष्ट सभी कुछ दिन समान, मत जान-बूझ अनजान बनो ।

भीतर अँधियारा फैला है, बाहर रौशनी जलाते हो,
मन में कालिमा भरी है पर, तन को धो-धोकर न्हाते हो ।

अन्तर में बैठे देव मगर,
तुम देवालय को जाते हो ।
उनको विसार कर जड़ समान,
बस सोते, पीते, खाते हो ।

तुम कौन, कहाँ से आये हो,
इस पर भी जरा विचार करो ।
हो डूब रहे भव-दलदल में,
निज जीवन का उद्धार करो ।

अब सुनो मित्र भीतर क्या है -
सच्चिदानन्द चिर ज्योतिर्मय ।
कूटस्थ अखण्ड विराजित है,
वह अजर अमर आत्मा अभय ।

रस-रूप-रंग तुम ढूँढ़ रहे, वह सभी रसों का उद्‌गम है ।
अपने अन्तर में झाँको तो, वह परम वस्तु सुन्दरतम है ।

बाहर का सब कुछ है असार,
भीतर का तत्त्व चिरन्तन है ।
अपनी महिमा में समासीन,
वह व्याप रहा लघु तन-मन है ।

इस जग का माया-मोह छोड़,
निज आत्मा का सन्धान करो ।
उसका ही रात-दिवस प्रतिपल,
नित श्रवण, मनन औ' ध्यान करो ।

– *विदेह*

योग क्या है?

स्वामी विवेकानन्द

प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्त: प्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मन:संयम या ज्ञान, इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस, यही धर्म का सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रिया-कलाप तो उसके गौण ब्यौरे मात्र हैं।

समस्त मानव जाति का समस्त धर्मों का चरम लक्ष्य एक ही है, और वह है भगवान से पुनर्मिलन, या दूसरे शब्दो में उस ईश्वरीय स्वरूप की प्राप्ति, जो प्रत्येक मनुष्य का सच्चा स्वभाव है। परन्तु यद्यपि लक्ष्य एक ही है, तो भी लोगों के विभिन्न स्वभावों के अनुसार उसकी प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हो सकते है।

लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनो – इन दोनों को मिलाकर योग कहा जाता है। योग शब्द संस्कृत क उसी धातु से बना है, जिससे अंग्रेजी शब्द 'योक' – जिसका अर्थ है 'जोड़ना' – स्वयं को उस परमात्मा से जोड़ना, जो हमारा सच्चा स्वरूप है। इस योग या मिलन के कई उपाय है, जिनमें से मुख्य हैं कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोग।

जिस प्रकार हर विज्ञान के अपने भिन्न भिन्न तरीके होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म में भी हैं। धर्म के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के तरीकों या साधनो को हम योग कहते हैं। विभिन्न प्रकृतियों और स्वभावो के अनुसार योग के भी विभिन्न प्रकार हैं। उनके चार विभाग निम्नलिखित हैं –

१. कर्मयोग – इसके अनुसार मनुष्य कर्म और कर्तव्य के द्वारा अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति करता है।

२. भक्तियोग – इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति सगुण ईश्वर के प्रति भक्ति और प्रेम के द्वारा होती है।

३. राजयोग – इसके अनुसार मनुष्य अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति मन:संयम के द्वारा करता है।

४. ज्ञानयोग – इसके अनुसार अपने ईश्वरीय स्वरूप की अनुभूति ज्ञान के द्वारा होती है।

ये सब एक ही केन्द्र – भगवान की ओर ले जानेवाले विभिन्न मार्ग है।

हमारा प्रत्येक योग बिना किसी दूसरे योग की सहायता के भी मनुष्य को पूर्ण बना देने मे समर्थ है, क्योंकि उन सबका लक्ष्य एक ही है। कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग – सभी मोक्ष-लाभ के लिए सीधे और स्वतंत्र उपाय हो सकते हैं।

'वैराग्य' को ही अनासक्ति कहते है और यही कर्मयोग की नींव है। अनासक्ति के बिना किसी भी प्रकार की योग-साधना नहीं हो सकती। यही समस्त योग-साधना की नींव है। सम्भव है जिस मनुष्य ने अपना घर छोड़ दिया है, अच्छे वस्त्र पहनना छोड़ दिया है, अच्छा भोजन करना छोड़ दिया है और मरुभूमि में जाकर रहता है, वह भी एक घोर विषयासक्त व्यक्ति हो। हो सकता है कि उसकी एकमात्र सम्पत्ति – देह ही सर्वस्व हो जाय और वह सतत उसी के सुख के लिए चेष्टा करे।

वैराग्य या त्याग ही इन समस्त योगों की धुरी है। कर्मी कर्मफल त्याग करता है। भक्त उन सर्व-शक्तिमान और सर्वव्यापी प्रेमस्वरूप के लिए सभी क्षुद्र प्रेमों का त्याग करता है; योगी जो कुछ अनुभव करता है, उसका त्याग करता है; क्योंकि उसके दर्शन की शिक्षा यही है कि प्रकृति यद्यपि आत्मा की अनुभूति के लिए हैं, पर वह अन्तत: समझा देती है कि वह प्रकृति में स्थित नही है, अपितु प्रकृति से नित्य पृथक् है। ज्ञानी सब कुछ त्यागता है, क्योंकि उसके दर्शनशास्त्र का सिद्धान्त यह है कि भूत, भविष्य, वर्तमान – किसी भी काल में प्रकृति का अस्तित्व नहीं है।

हमारे मतानुसार मन की समस्त शक्तियों को एकमुखी करना ही ज्ञान-लाभ का एकमात्र उपाय है। बहिर्विज्ञान मे बाह्य विषयो पर मन को एकाग्र करना होता है और अन्तर्विज्ञान मे मन की गति को आत्माभिमुखी करना पड़ता है। मन की इस एकाग्रता को ही हम योग कहते हैं।

योगी कहते हैं कि इस एकाग्रता की शक्ति का फल अत्यन्त महान् है। उनका कहना है कि मन की एकाग्रता के बल से संसार के सारे सत्य – बाह्य और अन्तर दोनों जगत् के सत्य – करामलकवत प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

योगी दावा करते हैं कि मनुष्य देह में जितनी भी शक्तियाँ हैं, उनमें सबसे उत्कृष्ट ओज की शक्ति है। यह ओज मस्तिष्क में संचित रहता है। जिसके मस्तक में ओज जितनी अधिक मात्रा मे रहता है, वह उतना ही अधिक बुद्धिमान और आध्यात्मिक बल से बली होता है। एक व्यक्ति बड़ी सुन्दर भाषा में सुन्दर भाव व्यक्त करता है, पर लोग आकृष्ट नहीं होते। दूसरा व्यक्ति न सुन्दर भाषा बोल सकता है, न सुन्दर ढंग से भाव व्यक्त सकता है, परन्तु फिर भी लोग उसकी बात से मुग्ध हो जाते हैं। वह जो कुछ कार्य करता है, उसी में महाशक्ति का विकास

देखा जाता है। ऐसी है ओज की शक्ति !

शरीर में जितनी शक्तियाँ क्रियाशील हैं, उनका उच्चतम विकास यह ओज है। यह हमें सदा याद रखना चाहिए कि सवाल केवल रूपान्तरण का है – एक ही शक्ति दूसरी शक्ति में परिणत हो जाती है। बाहरी संसार में जो शक्ति विद्युत् अथवा चुम्बकीय शक्ति के रूप में प्रकाशित हो रही है, वही क्रमशः आभ्यान्तरिक शक्ति में परिणत हो जाएगी। आज जो शक्तियाँ पेशियों में कार्य कर रही हैं, वे ही कल ओज के रूप में परिणत हो जाएँगी। योगी कहते हैं कि मनुष्य में जो शक्ति काम-क्रिया, काम-चिन्तन आदि रूपों में प्रकाशित हो रही है, उसका दमन करने पर वह सहज ही ओज में परिणत हो जाती है और हमारे शरीर का सबसे नीचेवाला केन्द्र ही इस शक्ति का नियामक होने के कारण योगी इसकी ओर विशेष रूप से ध्यान देते हैं। वे सारी कामशक्ति को ओज में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। कामजयी स्त्री-पुरुष ही इस ओज को मस्तिष्क में संचित कर सकते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्य ही सदैव सर्वश्रेष्ठ धर्म माना गया है। मनुष्य यह अनुभव करता है कि अगर वह कामुक हो, तो उसका सारा धर्मभाव चला जाता है, चरित्रबल और मानसिक तेज नष्ट हो जाता है। इसी कारण, संसार में जिन-जिन सम्प्रदायों में बड़े-बड़े धर्मवीर पैदा हुए हैं, उन सभी सम्प्रदायों ने ब्रह्मचर्य पर विशेष जोर दिया है। इसीलिए विवाह-त्यागी संन्यासी-दल की उत्पत्ति हुई है। इस ब्रह्मचर्य का पूर्णरूप से – तन-मन-वचन से – पालन करना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के बिना राजयोग की साधना बड़े खतरे की है; क्योंकि उससे अन्त में मस्तिष्क का विषम विकार पैदा हो सकता है।

मनुष्य को पूर्ण विकसित बनाना – यही इस शास्त्र का उपयोग है। युगों तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे काठ का एक टुकड़ा खिलौना बनकर समुद्र की लहरों द्वारा इधर-उधर फेंका जाता रहता है, वैसे ही हमें भी प्रकृति के जड़-नियमों के हाथों खिलौने बनने की जरूरत नहीं है। यह विज्ञान चाहता है कि तुम शक्तिशाली बनो, कार्य को अपने ही हाथों में लो, प्रकृति के भरोसे मत छोड़ो और इस छोटे-से जीवन के उस पार हो जाओ। यही वह उदात्त ध्येय है।

इन सभी योग-प्रणालियों में जो कुछ गुह्य या रहस्यात्मक है, वह सब छोड़ देना होगा। जिससे बल मिलता है, उसी को अपनाना होगा। अन्य विषयों के समान ही धर्म में भी – जो तुमको दुर्बल बनाता है, वह समूल त्याज्य है।

वही योगी है, जो अपने को सम्पूर्ण विश्व में और सम्पूर्ण विश्व को अपने में देखता है।

यह बच्चे का खिलवाड़ नहीं और न कोई सनक है कि एक दिन अभ्यास किया जाय और दूसरे दिन त्याग दिया जाय। यह जीवन भर का काम है और लक्ष्य की सिद्धि में जो भी मूल्य चुकाना पड़े, वह सर्वथा उचित है और वह लक्ष्य ईश्वर से अपने पूर्ण एकत्व के बोध जैसा महान् है। ❑❑❑

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य'।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपयों का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

नौजवान चाहिए

नारायणदास बरसैंया

तेज ब्रह्मचर्य का हो मुख पै तरुण ऐसे
कान्तिवान अक्षवान लक्षवान चाहिए
सत्यता सरसता सहानुभूति के हों सिंधु
धृतिमान गतिमान मतिमान चाहिए।
दुःखियों के पीर को समझते हों अपनी जो
प्रीतिवान रीतिवान नीतिवान चाहिए
देश के लिए जो जियें देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए।।

उर में उमड़ता हो उत्साह का समुद्र
रुद्र रूपधारी क्रुद्ध कान्तिवान चाहिए।
तरल अनल रक्त मध्य में प्रवाहित हो
भुजदण्ड लौहदण्ड के समान चाहिए।
उग्रवादियों की उग्रताओं के दमन हेतु
शक्तिमान भक्तिमान हनुमान चाहिए।
देश के लिए जो जियें देश के लिए जो मरें
भारत को आज ऐसे नौजवान चाहिए।।

सबसे बड़ा भक्त कौन?

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हम सोचते हैं कि जो मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर में जाता है, धर्मशास्त्र का पठन करता है, वह ईश्वर का बड़ा भक्त है। पर मात्र इतने से कोई भगवान् का भक्त नहीं हो जाता। जो अपने कर्तव्य के पालन में त्रुटि करता है, जिसके अन्तःकरण में दूसरों का दुःख पीड़ा उत्पन्न नहीं करता, जो स्वार्थी है और अपने लिये जीता है, वह मन्दिर में जाकर कितना भी घण्टा बजाए, मसजिद में जाकर कितना भी नमाज पढ़े, गिरजाघर में जाकर कितना भी घुटना टेके, वह भगवान् का भक्त नहीं बन जाता। जो अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करता और कर्त्तव्य को बोझ न मान अपने प्रेमास्पद परमेश्वर की सेवा मानता है, वही वास्तव में सबसे बड़ा भक्त है।

कथा आती है कि एक बार नारद जी जब वैकुण्ठ गये, तो उन्होंने देखा कि महाविष्णु चित्र बनाने में मग्न हैं तथा आस-पास शिव, ब्रह्मा इत्यादि अगणित देवता विष्णु की कृपा-कटाक्ष पाने के लिए लालायित खड़े हैं। किन्तु विष्णु हैं कि उन्हें चित्र बनाने से फुरसत नहीं। चित्रलीन विष्णु ने नारद जी को भी नहीं देखा। उनका यह व्यवहार नारद को बड़ा अपमान-जनक प्रतीत हुआ। वे आवेश में विष्णु के समीप गये और पास ही खड़ी लक्ष्मी से उन्होंने पूछा, "आज इतनी तन्मयता के साथ भगवान् किसका चित्र बना रहे हैं?" लक्ष्मी ने अपने स्वाभाविक भृकुटि-चांचल्य के साथ कहा, "अपने सबसे बड़े भक्त का - आपसे भी बड़े भक्त का !" दोहरे अपमानित नारद जी ने पास जाकर देखा, तो आश्चर्य से स्तब्ध रह गये - अचल ध्यानावस्थित विष्णु एक मैले-कुचैले अर्धनग्न मनुष्य का चित्र बना रहे थे। नारद जी का चेहरा क्रोध से तमतमा गया। वे उल्टे-पाँव भूलोक की ओर चल पड़े। कई दिनों के भ्रमण के बाद उन्हें एक अत्यन्त घिनौनी जगह पर पशु-चर्मों से घिरा एक चमार दिखायी दिया, जो गन्दगी और पसीने से लथपथ हो चमड़ों के ढेर को साफ कर रहा था। पहली दृष्टि में ही नारदजी ने पहचान लिया कि विष्णु उसी का चित्र बना रहे थे। दुर्गन्ध के कारण नारद जी उसके पास न जा सके। आड़ में रहकर दूर से ही उसकी दिनचर्या का निरीक्षण करने लगे।

संध्या होने को आयी, किन्तु वह चमार न तो मन्दिर में गया और न आँखें मूँदकर उसने क्षण भर के लिए हरि-स्मरण ही किया। नारद जी के क्रोध की सीमा न रही। अधमाधम चमार को श्रेष्ठ बताकर विष्णु ने उनका कितना घोर अपमान किया है ! आवेश में अन्धे हो विष्णु को श्राप देने के लिए उन्होंने अपनी तेजस्वी बाहु उठायी ही थी कि लक्ष्मी ने प्रकट हो उनका हाथ पकड़ लिया और कहा, "देवर्षे, भक्त की उपासना का उपसहार तो देख लीजिए। फिर जो करना हो कीजिए।"

उस चमार ने चमड़ों के ढेर को समेटा। सबको एक गठरी में बाँधा। फिर एक मैले कपड़े से सिर से पैर तक शरीर को पोंछा और गठरी के सामने झुककर विनय-विह्वल वाणी में कहने लगा, "प्रभो, दया करना। कल भी मुझे ऐसी ही सुमति देना कि आज की तरह ही पसीना बहाकर तेरी दी हुई इस चाकरी में सारा दिन गुजार दूँ।"

और नारद जी को विश्वास हो गया कि वह चमार विष्णु को क्यों सर्वाधिक प्रिय है। तो ईश्वर के बन्दे होने का यह मतलब नहीं कि हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों की उपेक्षा कर संसार से पलायन कर जायँ, याकि आलसी बनकर पड़े रहें और दूसरों की कमाई रोटी तोड़ते रहें। जो ईमानदारी से अपना और अपने लोगों का पेट नहीं पाल सकता, वह ईश्वर की क्या बन्दगी करेगा? जिसने दूसरे के लिए पसीना बहाना नहीं जाना, उसको ईश्वर-भक्ति का क्या तात्पर्य?

बहुधा हमारी ईश्वर-भक्ति एक दिखावा होती है। हमारा धर्मस्थानों में जाना या धर्मग्रन्थों का पाठ करना भी या तो दिखावे के लिए होता है अथवा व्यापार के लिए। यदि हम धार्मिक कहलाने वाले इन कृत्यों के द्वारा भौतिक लाभ ही पाना चाहें, तो हमारा ईश-भजन भी व्यवसाय बन जाता है। कसौटी यह है कि हम ईश्वर को चाहते हैं या ईश्वर से चाहते हैं? सबसे बड़ा भक्त वह है, जो ईश्वर को चाहता है और उसके बनाये जीवों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह तो यही कहता है –

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

– "मुझे न तो राज्य की चाह है, न स्वर्ग की और न मुक्ति की। मैं तो बस शोक-सन्तप्त प्राणियों के दुःख-कष्टों को मिटाना चाहता हूँ।" ❑❑❑

मन के जीते जीत

स्वामी सत्यरूपानन्द

समाज में कई बार हमें यह देखने को मिलता है कि अभावग्रस्त तथा साधनहीन व्यक्ति महत्वपूर्ण तथा उपयोगी कार्यों को करने में समर्थ और सफल होकर समाज का हित साधन करते हैं एव स्वय के जीवन को भी कृतार्थ करते हैं।

दूसरी ओर अनेक धन और साधन सम्पन्न व्यक्ति जीवन में कोई विशेष उपलब्धि नहीं कर पाते और न ही उनके द्वारा समाज का ही कुछ विशेष हित हो पाता है। उनका जीवन अत्यन्त साधारण और सामान्य ही रह जाता है। उनके जीवन को सार्थक और सफल भी नहीं कहा जा सकता है।

क्या कारण है इस प्रकार के अन्तर का? यदि हम ऐसे व्यक्तियों के चरित्र का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि उनके जीवन की सफलता और असफलता का कारण है मनोबल। एक व्यक्ति में मनोबल अधिक है तो दूसरे में कम। एक व्यक्ति दृढ़ सकल्प है तो दूसरा दुर्बल संकल्प।

मानव जीवन की सफलता और असफलता इसी मनोबल पर निर्भर करती है। जिसका मनोबल जितना प्रबल होगा, जिसका संकल्प जितना दृढ़ होगा वह व्यक्ति जीवन में उतना ही सफल और कृतकृत्य होगा।

मानव जीवन की सफलता या असफलता का रहस्य ही मनोबल का कम या अधिक होना है। ससार में ऐसा कोई भी स्वस्थ और सामान्य व्यक्ति नहीं है जिसमें कुछ न कुछ मात्रा में मनोबल न हो। सभी सामान्य बालक का जन्म कुछ मात्रा में मनोबल के साथ ही होता है। उस मनोबल को बढ़ाना, घटाना या व्यर्थ ही नष्ट कर देना व्यक्ति के अपने हाथ में होता है।

प्रत्येक व्यक्ति यदि नियमानुसार यथोचित प्रयत्न करे तो वह निश्चित रूप से अपने मनोबल को इतना बढ़ा सकता है कि अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार वह अपनी रुचि के क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है तथा अपने जीवन को सफल और सार्थक बना सकता है।

यदि हम प्रबल मनोबल युक्त व्यक्तियों के जीवन तथा कार्यों पर दृष्टि डालें तो हमें उनके जीवन की कुछ विशेषतायें, उनके व्यक्तित्व के कुछ विशेष गुण स्पष्ट दीख पड़ेंगे।

प्रथम तो हमें दीख पड़ेगा कि उन्होंने अपने जीवन का एक कार्यक्षेत्र निर्धारित कर लिया है। ऐसा कार्यक्षेत्र जिसमें उन्हें रुचि है तथा उस ओर उनका स्वाभाविक झुकाव है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि उनकी रुचि का कार्यक्षेत्र उनकी जीविका का साधन नहीं भी हो सकता। जीविका के लिये वह व्यक्ति और ही कुछ कार्य करता हो। हो सकता है उस कार्य में उसकी उतनी रुचि न भी हो। वैसे भी जीविका जीवन की सफलता का मापदण्ड नहीं है। जीवन में तृप्ति और सफलता तो उसी कार्य में मिल सकती है जिसमें हमारी स्वाभाविक रुचि हो।

दूसरी बात प्रबल मनोबल युक्त व्यक्ति के जीवन में हम ये तीन गुण अवश्य पायेंगे – (१) धैर्य, (२) अध्यवसाय और (३) अभ्यास। इन तीनों गुणों के अभ्यास से कोई भी व्यक्ति अपना मनोबल बढ़ाकर अपने मनोवांछित क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। अध्यवसाय और अभ्यास का आधार है धैर्य। ऐसा कह सकते हैं कि धैर्य वह नींव है जिस पर अध्यवसाय और अभ्यास का भवन खड़ा होता है। अतः सर्वप्रथम जीवन में धैर्य के गुण का अर्जन करना चाहिए।

जीवन में बहुत सी बातों के लिये हमें विवश होकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यदि हम इस विवशता को शान्तिपूर्वक एव स्वेच्छा से स्वीकार कर लें तो वही धैर्य का सद्गुण बन जाता है तथा हमारे जीवन में स्थिरता एव दृढ़ता लाता है। धैर्य के पश्चात् मनोबल बढ़ाने के लिये दूसरा आवश्यक गुण है अभ्यास। आज अपने जीवन में हम जिन भी कार्यों में दक्ष एव निपुण हैं वे सभी निरन्तर अभ्यास के ही परिणाम हैं। जाने अनजाने हमने उस कार्य का दीर्घकाल तक निरन्तर अभ्यास अवश्य किया है।

अभ्यास के सम्बन्ध में एक विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता है। भ्रष्ट और अनुचित अभ्यास हमें बुरी आदतें और कार्यों में फँसा सकता है। अतः जीवन को उन्नत और विकसित करनेवाले गुणों का ही अभ्यास करना चाहिये।

अभ्यास की सफलता का रहस्य है अध्यवसाय। हाथ में लिये हुए किसी भी कार्य को उसकी पूर्णता या समाप्ति तक निरन्तर करते रहना। किसी कठिनाई या बाधा विघ्न के आगे न झुकना। कठिनाइयों में और भी अधिक परिश्रम कर उस कार्य को पूर्ण करना। अध्यवसाय एक अति उपयोगी मानसिक व्यायाम है। इससे मनोबल बहुत अधिक बढता है। अध्यवसायी व्यक्ति ही अभ्यास द्वारा जीवन में सफलता प्राप्त करता है। अतः छोटे छोटे दैनिक कार्यों को सदा नियमित रूप से करने का अभ्यास करना चाहिये। उससे अध्यवसाय का गुण पुष्ट होता है।

धैर्य, अध्यवसाय और अभ्यास द्वारा महान् मनोबल प्राप्त किया जा सकता है तथा मनोबल हमें जीवन के सभी क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने में सहायक होता है। अतः मनोबल अर्जन की साधना में कटिबद्ध होकर लग जाएँ।

❖ ❖ ❖

अंगद-चरित (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'अंगद-चरित' पर कुल १० प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके नवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है। – सं.)

रावण के मुख से भगवान श्रीराम की निन्दा सुनते ही अंगद अत्यन्त क्रोधित हो जाते हैं। उस क्रोध की प्रतिक्रिया यह होती है कि वे भगवान राम के प्रताप का स्मरण करके रावण की सभा में अपना पैर रोप देते हैं और उसे चुनौती देते हुए कहते हैं – "रावण, तुम या तुम्हारी सभा का कोई भी सदस्य यदि इस मेरे पैर को हटाने में समर्थ हो जाएगा, तो मैं वचन देता हूँ कि मैं सीताजी को हार जाऊँगा और श्रीराम लौट जाएँगे।" सारे राक्षस अंगद की इस प्रतिज्ञा को सुनकर चकित हो जाते हैं! उन्हें लगता है कि यह कार्य तो बड़ा सरल है। शुरू में तो रावण स्वयं न उठकर राक्षसों को आदेश देता है – तुम लोग केवल इसके पैर को ही मत खींचो अपितु इसे भूमि पर पटक भी दो –

पद गहि धरनि पछारहु कीसा ।। ६/३४/१०

रावण यह दिखाने की चेष्टा कर रहा था कि यह कार्य तो इतना सरल है कि इसे करने में हमारी सभा का कोई भी सदस्य सक्षम हो सकता है। पर वे योद्धा एक बार ही नहीं, बार बार प्रयत्न करते हैं, पर अंगद का चरण हिला तक नहीं पाते। और अन्त में जब रावण स्वयं अंगद का चरण उठाने के लिए तैयार होता है, तो अंगद उस पर व्यंग्यपूर्वक कह देते हैं – "रावण, मेरे चरण पकड़ने से तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। यदि चरण ही पकड़ना है, तो भगवान श्रीराम के चरण क्यों नहीं पकड़ लेते।" रावण बड़ी लज्जा का अनुभव करता है और बिना चेष्टा किये ही लौटकर सिंहासन पर बैठ जाता है।

गोस्वामी जी ने यह जो दृश्य प्रस्तुत किया है, बहिरंग दृष्टि से यह बड़ा विचित्र-सा प्रतीत होता है, पर उन्होंने इसे तीन अलग सन्दर्भों में तीन अलग अलग रूपों में प्रस्तुत किया – ज्ञान के सन्दर्भ में, भक्ति के सन्दर्भ में और कर्म के सन्दर्भ में। तीनों सन्दर्भों में वे अंगद के पैर और उसके न हटने का अलग अलग अर्थ बताते हुए अलग अलग व्याख्या करते हैं। यहाँ गोस्वामी जी कहते हैं – अंगद की प्रतिज्ञा के सम्बन्ध में राक्षसों की दशा वैसी ही हुई जैसे कुयोगी व्यक्ति मोह के वृक्ष को उखाड़ने में समर्थ नहीं होता –

पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी ।
मोह बिटप नहिं सकहि उपारी ।। ६/३४/१४

यहाँ अंगद के पैर को मोह के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि भक्ति और धर्म के सन्दर्भ में उसे दूसरे रूपों में प्रस्तुत किया गया है, पर यदि ज्ञान की दृष्टि से विचार करके देंखे तो सीताजी को पाने की प्रक्रिया पहले विदेहनगर में सम्पन्न होती है। वहाँ भी सीताजी को पाने के लिए अगणित राजा एकत्रित हुए हैं। स्वयं रावण और बाणासुर भी उस सभा में आए, पर जहाँ अन्य राजाओं ने प्रयत्न किया वहीं रावण उस धनुष को केवल देखता है और चुपचाप लौट जाता है। अन्य ग्रन्थों में तो यह भी लिखा है कि रावण ने अपनी वाक्चातुरी के द्वारा सीताजी को पाने की चेष्टा की। इसका अर्थ यह है कि भगवान श्रीराघवेन्द्र तो वहाँ पधारे ही हुए हैं और सीताजी से उनका मिलन तो होगा ही, पर रावण का आचरण और चरित्र हर दृष्टि से भगवान से भिन्न है।

जहाँ तक सीताजी की प्राप्ति के लिए प्रयत्न का प्रश्न है, उनकी उपलब्धि का जो लक्ष्य है, वह दोनों में समान रूप से दिखाई दे रहा है। सीताजी भगवान श्रीराम की तो प्रिया ही हैं, उनकी अभिन्न शक्ति ही हैं, लेकिन रावण के मन में भी सीताजी के प्रति तीव्रतम आसक्ति है। रावण निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करता रहता है। यहाँ तक कि लंका के युद्ध के दौरान भी रावण सीताजी की याद में डूबा हुआ रहता है, ऐसा संकेत त्रिजटा ने सीताजी से किया था। इसका तात्त्विक संकेत यह है कि रावण लंका का निवासी है और यदि इसे अध्यात्म की भाषा में कहें तो **लंका है देहनगर** – देहाभिमान – जहाँ जीवन का लक्ष्य केवल भोग है और शरीर को ही आत्मा मानकर उसी की पूजा हो रही है, उस नगर का नाम है लंका। **और जहाँ जनकनन्दिनी सीताजी का प्राकट्य हुआ था वह है विदेहनगर।** इसका अभिप्राय यह है कि चाहे कोई विदेहनगर का निवासी हो, देहनगर का, श्रीसीताजी की उपलब्धि ही सबके जीवन का लक्ष्य है। सीताजी शान्ति हैं, तो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा जो शान्ति न चाहता हो। बड़ा-से-बड़ा ज्ञानी भी शान्ति पाना चाहता है और घोर-से-घोर मोहग्रस्त व्यक्ति भी, जो निरन्तर शरीर से ही संलग्न हैं, वे भी शान्ति पाना चाहते हैं। पर उसे पाने की जो सही पद्धति है, उसे बहुत कम लोग ही जानते हैं। जनकपुर के धनुषयज्ञ में सीताजी को पाने के लिए अगणित

लोग एकत्र हुए थे। रावण और बाणासुर भी वहाँ आए थे। जनकनन्दिनी सीताजी, शान्तिरूपा सीताजी सर्वप्रथम किसे मिलीं? महाराज जनक को। क्यों? उत्तर बड़ा सरल है – सीताजी यदि मूर्तिमती शान्ति हैं, तो महाराज जनक की विशेषता यह है कि वे देह से ऊपर उठे हुए हैं और आत्मतत्त्व के ज्ञाता हैं। जनकजी के जीवन की दूसरी विशेषता यह है कि वे निष्काम हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम सीताजी को पाया। इसका सीधा अर्थ यह हुआ कि जिनके जीवन मे निष्कामता है, जो देह से ऊपर उठ चुके हैं, उनके लिए शान्ति की उपलब्धि अत्यन्त सरल है। इसलिए महाराज जनक ही सबसे पहले शान्तिरूपा सीताजी को पाते हैं। पाना सभी चाहते हैं, पर उन्हें पाने की जो पद्धति है उसे न जानकर अच्छे और बुरे, हर तरह के राजा वहाँ एकत्रित हुए हैं। रावण तो हर पद्धति से सीताजी को पाने की चेष्टा करता है।

ज्ञानदीपक के प्रसंग में गोस्वामी जी ने एक रूपक प्रस्तुत किया कि दीपक जल रहा है। बड़े परिश्रम से दीपक जलाया गया है। वहाँ गोस्वामी जी ने बताया है कि माया किस प्रकार उस ज्ञानदीपक को बुझाने की चेष्टा करती है। और उसे बुझाने के लिए माया अत्यन्त निकट आकर तीन प्रकार से प्रयत्न करती है – कल से, बल से, और छल से, इन तीनों पद्धतियों से वह ज्ञानदीपक को बुझाने का प्रयत्न करती है –

कल बल छल करि जाहिं समीपा।
अंचल बात बुझावहिं दीपा।। ७/११८/८

रावण के जीवन में भी सीताजी को पाने के प्रयत्न में इन्हीं तीनों का प्रयोग मिलता है। वह कला के द्वारा भी सीताजी को पाने की चेष्टा करता है, छल के द्वारा और बल के द्वारा भी प्रयास करता है। पहले तो अपने बोलने की कला के द्वारा, वाक्चातुर्य के द्वारा सीताजी को पाने प्रयास करता है। इसका तो बड़ा व्यंग्यात्मक वर्णन आता है। रावण ने महाराज दशरथ से प्रस्ताव किया – "जनक, तुम सीताजी का विवाह मुझसे कर दो, धनुष तो मैं बाद में तोड़ दूँगा। मेरा बल तो तुम जानते ही हो! मैं कैलाश पर्वत को उठा चुका हूँ, फिर इस धनुष में क्या रखा है! इसलिए तुम चिन्ता मत करो, पहले विवाह कर दो। महाराज जनक ने कहा – मैंने तो प्रतिज्ञा की है कि धनुष टूटने के बाद ही विवाह होगा। रावण ने कहा – यह तो तुम्हारी बुद्धिमत्ता नहीं है; तुम्हारी यह प्रतिज्ञा तो अविवेकपूर्ण है। – क्यों? रावण तुरन्त ज्योतिष का आश्रय लेकर बोला – "तुम ज्ञानी होकर ऐसी अविवेकपूर्ण बातें कह रहे हो। क्या तुमने ज्योतिष नहीं पढ़ा है? – **आदौ कन्या ततो धनुः**। गणना में छठी राशि कन्या है और नवीं राशि है धनु। पहले कन्या और बाद मे धनु। तो क्या तुम्हारी बुद्धि उल्टी हो गयी है कि पहले धनु और बाद में कन्या की बात करते हो।" इसका अभिप्राय क्या है? यदि चालाकी से ही सीताजी मिल जायँ, तो चालाकी ही सही। रावण ने बात बनाने की कला का भी प्रयोग किया। आगे चलकर दण्डकारण्य में जब वह साधु बनकर आता है तो छल के द्वारा सीताजी पर अधिकार करना चाहता है और अन्त में बलपूर्वक अपने रथ पर बैठाकर ले जाने की चेष्टा करता है।

इसका अभिप्राय यह है कि अनगिनत ऐसे व्यक्ति हैं जो सीताजी को किसी न किसी रूप में पाना तो चाहते हैं, लेकिन उन्हें पाने के लिए इन्ही तीन पद्धतियों का प्रयोग करते है – कला का, बल का अथवा छल का। पर सीताजी को पाने का क्या सही मार्ग यही है? मन्दोदरी ने रावण को चुनौती देते हुए कहा था – "यदि हमें कोई वस्तु बहुत प्रिय लगे तो इसका क्या यही अर्थ है कि हम उसे चुरा लें? आप तो उन्हें धनुष तोड़कर पा सकते थे और तब समाज में कोई आपकी निन्दा भी नहीं करता। पर आप तो उन्हें चुराकर ले आए, आपने चोरी की है – उस समय धनुष तोड़कर सफलता प्राप्त करने की चेष्टा आपने क्यों नहीं की? –

तब संग्राम जितेहु किन ताही। ६/३६/११

इस पर रावण फिर चालाकी, बातें बनाने की कला, वही पाण्डित्य दिखाता है, जो उसके चरित्र में पग पग पर दिखाई देता है। मन्दोदरी के सामने भी उसने यही कहा – "तुम कैसी नासमझी की बात करती हो? मेरे लिए धनुष उठाने और तोड़ने में कोई कठिनाई थी क्या? यदि केवल धनुष उठाने की बात होती तब तो मैं धनुष उठा ही देता, पर क्या कहूँ, जनक ने कह दिया कि धनुष तोड़ना पड़ेगा। और तुम तो जानती हो कि वह धनुष हमारे गुरुदेव का था। मैं तो अपने गुरुजी का इतना भक्त हूँ कि उनके धनुष को कैसे तोड़ता? इसलिए मैंने नही तोड़ा और लौट आया।" अंगद रावण के जीवन के इस सबसे बड़े व्यंग्य से परिचित थे। इसलिए कहा – "अच्छा रावण, अब तुमसे तोड़ने के लिए नहीं केवल उठाने के लिए ही कहता हूँ। अब तुम्हारे ही नगर में एक बार फिर वही प्रतिज्ञा दुहराए देता हूँ। श्रीसीताजी को पाने के लिए तुम्हें फिर से चुनौती दे रहा हूँ। और अब की बार तोड़ना नहीं केवल उठाना भर है। बस, मेरा पैर उठा दो। अब तो कोई समस्या नहीं है न! न तो हमारा गुरु-शिष्य का नाता है और न ही तोड़ने की कोई समस्या है।"

सीताजी को पाने के मार्ग में ये दो बाधाएँ हैं। इन्हें पार करने के बाद ही उनकी प्राप्ति होती है। एक तो है धनुष और दूसरा है अंगद का चरण। **या तो धनुष को तोड़ने के बाद सीताजी प्राप्त होती हैं या अंगद के चरण उठाने के बाद।** दोनों ही प्रसंगों में एक एक महान् चुनौती है, सीताजी को पाने के लिए एक एक अनिवार्य शर्त है। और **वे दोनों शर्तें या बाधाएँ हैं – अहंकार और मोह**। कुछ लोगों की मान्यता है कि सबसे प्रबल शत्रु अहंकार है और कुछ की मान्यता है कि

मोह सबसे प्रबल शत्रु है। यह साधना-पद्धति पर निर्भर करता है कि कौन सबसे प्रबल शत्रु है। **ज्ञान की पद्धति में मोह सबसे बड़ी बाधा है और भक्ति के मार्ग में अभिमान।**

जीव के बन्धन में फँसे होने का कारण यह है – मानो कोई व्यक्ति अँधेरे में बैठा हुआ हो और उसे उलझी हुई रस्सी को सुलझाने के लिए कह दिया जाय। तो वह जितनी ही उसे सुलझाने की चेष्टा करेगा, उतनी ही वह और भी उलझती चली जाएगी। इसी प्रकार जीव की समस्या यह है कि वह अँधेरे में बैठा हुआ है और एक ऐसी ग्रन्थि को सुलझाने की चेष्टा कर रहा है, जो बड़ी विचित्र पद्धति से उलझ गयी है। यह ग्रन्थि कौन सी है? गोस्वामी जी के अनुसार यह चिज्जड़ ग्रन्थि, जहाँ चेतना जड़ से बँध गयी है। और यह अँधेरा? इसके लिए कागभुशुण्डि जी ज्ञानदीपक प्रसंग मे एक सूत्र देते हैं – जीव के हृदय मे मोहरूपी सघन अन्धकार फैला हुआ है और जब उसमें ग्रन्थि ही नहीं दिखाई दे रही है, तो फिर उसे भला सुलझाया कैसे जा सकता है –

जीव हृदय तम मोह बिसेषी।
ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी।। ७/११७/७

और दूसरे प्रसंग में यह भी कहा गया है कि – ऐसे कौन कौन हैं, जिन्हें मोह ने अन्धा न किया हो –

मोह न अन्ध किन्ह केहि केही। ७/७०/७

बड़ी विचित्र बात है। यदि अन्धकार हो तो भी गाँठ खुलने मे कठिनाई है और कहीं बहुत उजाला हो, पर व्यक्ति अन्धा हो तो वहाँ भी उसे खोलना सम्भव नहीं है। अभिप्राय यह कि यदि अन्त:करण में मोह का अन्धकार हो तो भी और साक्षात्कार के लिए जिस दृष्टि की आवश्यकता है, वही न रह जाय, तो भी इस चिज्जड़ ग्रन्थि को खोलना असम्भव है। मोह दृष्टि को हर लेने की चेष्टा करता है, ऐसी स्थिति में जीव उस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इस सन्दर्भ में 'मानस' में एक तीसरी बात भी कही गयी है – सभी लोग मोह की रात्रि में सो रहे हैं और तरह तरह के स्वप्न देख रहे हैं –

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।
देखिय सपन अनेक प्रकारा।। २/९२/२

मोह की रात्रि में व्यक्ति सो रहा है – यह बड़ी अच्छी बात कही गई है, परन्तु समस्या यह है कि हमारे-आपके जीवन में एक ऐसी स्थिति होती है, जब हम अनुभव ही नहीं करते कि हम सो रहे हैं। और वह स्थिति कब होती है? जब हम गहरी नींद में स्वप्न देख रहे होते हैं, तब वह स्वप्न हमें बिल्कुल सत्य प्रतीत होता है। तब ऐसा नहीं लगता कि हम स्वप्न देख रहे हैं और यह स्वप्न तो मिथ्या है। अब इस स्वप्न में व्यक्ति जो दृश्य देखता है, जिन व्यक्तियों को, जिन पदार्थों को देखता है, वे उसे सत्य प्रतीत होते हैं। इसका तीसरा अभिप्राय यह हुआ कि यदि मोहग्रस्त व्यक्ति को कहा जाय कि सारे विषय तो मिथ्या हैं, तो जैसे स्वप्रकाल में स्वप्न देखनेवाले व्यक्ति को स्वप्न के मिथ्यात्व की प्रतीति नहीं होती, वैसे ही अनुभव करता हुआ वह मोहग्रस्त व्यक्ति तत्काल कहेगा – "अपने समक्ष इतने प्रत्यक्ष रूप से दिख रहे संसार को मैं मिथ्या कैसे मानूँ? जिसे मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ उसे प्रमाण मानूँ या किसी के भाषण में कही गई बात को प्रमाण मानूँ।"

इसी प्रकार मोह के सम्बन्ध में ये तीन बातें कही गईं हैं – पहला मोह के द्वारा अन्धा या दृष्टिहीन बना देना, दूसरा अन्धकार फैला देना और तीसरा व्यक्ति को सुलाकर उसे स्वप्न दिखाते हुए उस स्वप्न को सत्य जैसा प्रतीत करा देना।

अब जो चौथी बात कही गई, उसमें **मोह की तुलना वृक्ष से की गई है।** अब वृक्ष का एक भाग तो वह है, जो ऊपर दिखाई देता है, पर दूसरा भाग – उसकी जड़ें जो पृथ्वी के भीतर गहराई में होती हैं। मोह की समस्या यही है। सम्पूर्ण संसार का जड़ या मूल मोह है, परन्तु परमार्थ की दृष्टि से इसका अस्तित्व है ही नहीं –

मोह मूल परमारथु नाहीं। २/९२/८

मोह का फल भी व्यक्ति के जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, परन्तु मोह स्वयं अदृश्य है, छिपा है। **जब तक हम इस संसार रूपी वृक्ष को मोह रूपी जड़-मूल के साथ उखाड़कर फेंक नहीं देंगे, तब तक हमें मोह के वृक्ष से कभी मीठे और कभी कड़वे फल मिलते रहेंगे।** मोहग्रस्त व्यक्ति को लगता है कि मैं बड़ा सुखी हूँ और कभी लगता है कि मैं बड़ा दु:खी हूँ। मोह के सम्बन्ध में इसकी परिभाषा की ओर संकेत करने के लिए गोस्वामी जी द्वारा इतने अधिक दृष्टान्त लेने का कारण यह है कि उन्हें ऐसा कोई एक दृष्टान्त नहीं मिल पा रहा है जिसमें मोह की सारी बुराइयों को प्रकट किया जा सके।

मोह ज्ञान का सबसे बड़ा शत्रु है और मनुष्य के जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। गोस्वामी जी कहते हैं कि रावण मूर्तिमान मोह है और यह भगवान राम का सबसे बड़ा विरोधी है। जहाँ ज्ञान का सन्दर्भ है, वहाँ पर मोह उसका सबसे बड़ा शत्रु है, परन्तु जहाँ भक्ति का सन्दर्भ है, वहाँ अहंकार भक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। अभिप्राय यह कि अहंकारी व्यक्ति तो कभी भक्त हो ही नहीं सकता। इसका कारण यह है कि **व्यक्ति को जब अपने में कमी दिखाई दे और भगवान में विशेषता दिखाई दे, तब तो उसके जीवन में भक्ति आयेगी।** परन्तु जो अपने में ही विशिष्टता देख रहा है, वह तो अभिमानी है, वह कभी भक्त नही हो सकता। इसलिए ज्ञानदीपक और भक्तिमणि – दोनों ही प्रसंगो मे इन्ही दो प्रमुख शत्रुओं – मोह और अभिमान की चर्चा की गई है।

और अन्त में जब ज्ञानदीपक जल उठता है, तब क्या होता है? गोस्वामी जी कहते हैं – जैसे दिया जलने पर कीट-

पतंगे आकर उसमें जलकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जब दिव्य ज्ञान का दीपक जल उठता है, तब मोह का अन्धकार तो मिटता ही है, पर साथ ही ये जो अहंकार आदि पतंगे हैं, वे भी जलकर नष्ट हो जाते हैं –

जरहिं मदादिक सलभ सब । ७/११७/घ

इसका तात्त्विक अभिप्राय यह है कि जीव को जब सत्य का बोध हो गया तो जैसे पतंगे जलकर नष्ट हो गए, वैसे ही व्यक्ति जो अपने आप को न जाने क्या क्या मान बैठा है, उसका वह अभिमान टूट जाता है, क्योंकि जब – अखंड वृत्ति का उदय हो गया, तो सीमित अहंकार का नष्ट हो जाना स्वाभाविक है –

सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा । ७/११८/८

इस प्रकार ज्ञानदीपक प्रसंग में मोह व अभिमान – दोनों को जोड़ा गया है। फिर भक्तिमणि के प्रकाश में तो मोह का अन्धकार स्वयं ही मिट जाएगा। गोस्वामी जी कहते हैं – मोह रूपी दरिद्रता तो उस मणि के पास तक नहीं फटकती –

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा ।
लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ।। ७/१२०/४

इस प्रकार जिस व्यक्ति के हृदय में भक्ति का उदय हुआ, भगवत्कृपा से उसका अभिमान नष्ट हो जाता है और व्यक्ति जब ज्ञानदीपक जलाता है, तो मोह का अन्धकार मिट जाता है। इस प्रकार मोह और अन्धकार ये दो ही बड़े शत्रु हैं।

लेकिन एक और बात है – यदि मोह तथा अभिमान दोनों एक साथ आ जायँ, तब तो बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो जायेगी। यदि व्यक्ति के जीवन में मोह हो, पर अभिमान न हो तो उस व्यक्ति को पता रहेगा मुझे मोह है। पर यदि मोह के साथ अभिमान हो गया, तो इसमें सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह मोहग्रस्त होकर भी अभिमान के कारण अपने मोह को न देख, स्वयं में ही सारी बुद्धिमत्ता और श्रेष्ठता देखता है।

मोहग्रस्त होने का वर्णन रामायण के कई पात्रों के जीवन में है। सतीजी को मोह हो जाता है, गरुड़जी को मोह हो जाता है और महाभारत में अर्जुन को भी मोह हो गया। लेकिन ये जितने पात्र हैं, इनके जीवन में भले ही मोह आ गया हो, पर अभिमान नहीं आया। मोह जाने के बाद उनके जीवन में उसका दुष्परिणाम अधिक काल तक नहीं रहा। अर्जुन के जीवन में मोह भले ही आ गया हो, परन्तु उन्हें यह ठीक बोध है कि धर्म की दृष्टि से मेरा उचित कर्तव्य क्या है, शायद इस विषय में मेरी ही बुद्धि भ्रमित हो गई है, अत: वे भगवान से प्रार्थना करते हैं – मैं शरण में हूँ –

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।२/७।।

यह शरणागति तो अभिमानी व्यक्ति को होती ही नहीं है। शरणागति का तो अर्थ ही है कि जब व्यक्ति को ऐसा लगता है कि मैं असमर्थ हूँ तब वह शरण में जाता है। अर्जुन की जो स्थिति है और जितने पात्र रामायण में मोहग्रस्त होते है, वे कुछ समय के लिए तो मोहग्रस्त होते हैं, पर निरभिमान होने के कारण वे अन्त में मोह से मुक्त हो जाते हैं। अभिमान उनमें पहले से ही नहीं होता। परन्तु रावण की समस्या क्या है? वह तो मोह और अभिमान – दोनों से ही ग्रस्त है।

प्रभु से मिलन होने पर हनुमान जी ने जब उनसे पूछा कि आप कौन हैं तो प्रभु ने अपना परिचय दिया – "हे विप्र, हम कोशलनरेश महाराजा दशरथ के पुत्र हैं, उनकी आज्ञा के अनुसार वन में आये हैं। यहाँ राक्षसों ने हमारी पत्नी वैदेही का हरण कर लिया और हम उन्हीं को खोजते फिर रहे हैं" –

कोसलेस दसरथ के जाए ।
हम पितु बचन मानि बन आए ।।
इहाँ हरी निसिचर बैदेही ।
बिप्र फिरहिं हम खोजन तेही ।।४/२/१,३

और इतना अपना परिचय देने के बाद प्रभु ने हनुमान जी से कहा – हे ब्राह्मण देवता, हमने तो अपना चरित्र आपको गाकर सुना दिया, अब आप भी अपनी कथा सुना डालो –

आपन चरित कहा हम गाई ।
बिप्र कहहु निज कथा बुझाई ।। ४/२/४

तब हनुमान जी ने अपना बड़ा विचित्र सा परिचय दिया। उन्होंने अपनी मोहग्रस्तता स्वीकार करते हुए कहा – महाराज, मेरा परिचय यह है कि मैं मन्द हूँ, मोह के वशीभूत हूँ, कुटिल हृदय हूँ और अज्ञान हूँ –

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अज्ञान । ४/२

प्रभु ने हनुमान जी की ओर देखा और बोले – "ये जो चार विकार तुम अपने में देख रहे हो, इनमें से तुम्हें सबसे अधिक दु:ख किसका है? मोहग्रस्त होने का, या मन्द होने का या कुटिल-हृदय होने का या फिर अज्ञान होने का?" हनुमान जी ने कहा – महाराज, ये चारों मेरे लिए समस्या नहीं है, इन चारों ने मुझे उतना दु:ख नहीं दिया जितना आपने दे दिया। प्रभु बोले – अरे, मैंने क्या दु:ख दे दिया भई तुम्हें? हनुमान जी कहने लगे – महाराज, मैं तो बहुत दिनों से ऐसा ही था, पर आज आपने जो यह पूछ दिया कि 'ब्राह्मण देवता, तुम कौन हो', तो आपका यह प्रश्न मेरे लिए सबसे अधिक दु:खदाई है कि जीव बेचारा तो ईश्वर को ही भूला ही हुआ था, पर ईश्वर भी जीव को भूल जाय, तो उसकी क्या गति होगी –

एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अज्ञान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान ।। ४/२

प्रभु हनुमान जी से पूछ सकते थे – ब्राह्मण देवता, जब आप मुझसे पूछ रहे हैं कि आप कौन हैं तो मुझे भी तो पूछना चाहिए कि आप कौन हैं? हनुमान जी बोले – नहीं महाराज,

जीव का पूछना उचित है, पर ईश्वर का पूछना उचित नहीं। क्योंकि प्रभो, आपकी बलवती माया ही ऐसी है, जिससे ग्रस्त होकर मैं आपको पहचान नहीं सका –

मोर न्याउ मैं पूछ साईं ।
तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ।।
तव माया बस फिरउँ भुलाना ।
ता ते मैं नहि प्रभु पहिचाना ।। ४/२/९

हनुमान जी ने प्रभु को अपना नाम बिल्कुल नहीं बताया। इसका क्या कारण था? कभी कभी आप लोगों में से भी किसी की दूसरों से भेंट होती होगी। कई लोग तो अत्यधिक आशा रखते हैं कि आप उन्हें पहचान लें। मुझे कई बार ऐसा अनुभव होता है, किसी किसी नगर के ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जो मुझसे कभी मिले होते हैं और वे आशा रखते हैं कि मैं उन्हें याद रखूँ। यह उनका दोष नहीं है। इसमें मेरी तो बड़ी समस्या है कि यदि कोई मुझसे पूछ दे कि मुझे पहचाना या नहीं? तो उनको क्या उत्तर दिया जाय? नहीं कहने से उनको चोट लगेगी – अरे, मुझे नहीं पहचानते? क्योंकि उन्हें लगता है कि हम इतने महत्त्वपूर्ण हैं, इन्हें याद रखना चाहिए था। और यदि कह दिया जाय कि हाँ पहचानता हूँ तो यह असत्य बात हुई। और इतने पर किसी सामनेवाले व्यक्ति को सन्तुष्ट करने के लिए कह दें कि हाँ, पहचान लिया, तो ऐसे भी लोग होते हैं कि जो पूछ बैठते हैं – अच्छा तो मेरा नाम बताइए? बिना परीक्षा लिए वे छोड़ने के लिए तैयार नही हैं। हम तो तब मानेंगे जब आप हमारा नाम बताएँगे। अब संसार में ऐसे कई लोग स्मरण-शक्ति वाले व्यक्ति होते हैं, जिनको अधिक-से-अधिक लोगों का नाम याद रहता है, पर कितना भी स्मरण शक्तिवाला व्यक्ति क्यों न हो, संसार में सबका नाम तो याद नहीं रख सकता। अगणित व्यक्ति हैं, फिर इस जन्म में जितने व्यक्तियों के नाम याद रखते हैं, पर अनेक जन्म से न जाने कितने व्यक्तियों से नाते रह चुके हैं, निकट-से-निकट के नाते रह चुके हैं, वे सब तो बिचारे को न तो नाते याद हैं, न नाम।

पर यह समस्या तो ईश्वर के साथ नहीं है कि ईश्वर कुछ लोगों को याद रखे और कुछ लोगों को भूल जाय। हनुमान जी ने अपना परिचय क्यों नहीं दिया? उनका अभिप्राय यह है – प्रभो, जब आप जान-बूझकर भूलने का अभिनय कर रहे हैं, तब तो मैं उलाहना दिए बिना नहीं रहूँगा। और उसके बाद हनुमान जी को पूरा सन्तोष कब हुआ? जब हनुमान जी को उपदेश देते हुए प्रभु ने उनका नाम लिया –

सो अनन्य जाकें असि मत न टरइ हनुमन्त । ४/३

हनुमान जी गद्‌गद हो गए। बोले – "महाराज, मेरा भ्रम मिट गया। मुझे लग रहा था कि आप मुझे भूल गए हैं, पर जब आपके मुँह से अपना नाम सुना तो सन्तोष हुआ कि आपको याद है।" और तब? – प्रभु को अनुकूल देखकर हनुमान जी महाराज बड़े प्रसन्न हो गए, हृदय में हर्ष छा गया और सारे दु:ख जाते रहे –

देखि पवनसुत पति अनुकूला ।
हृदय हरष बीती सब सूला ।। ४/४/२

व्यक्ति में चाहे जितनी भी बड़ी कमी क्यों न रहे, पर ईश्वर अपनी कृपा के द्वारा सामनेवाले व्यक्ति की बुराइयों को, कमियों को दूर कर देते हैं। पर व्यक्ति को यदि ईश्वर की ही स्मृति न रह जाय तो बेचारा वह अकेले अपने दुर्गणों से कैसे लड़े? हनुमान जी स्वयं को मोहग्रस्त कहते हैं, कुटिल कहते हैं, मन्द और अज्ञानी कहते हैं, पर प्रभु तो सुनकर हँस रहे हैं – "हनुमान, तुम कितने सरल हो। क्या कभी कोई कुटिल व्यक्ति कह सकेगा कि मैं कुटिल हूँ? वह तो अपनी कुटिलता को छिपाने की चेष्टा करेगा। पर तुम तो इतने सरल हो कि स्वयं अपने सारे दोष बता रहे हो और कह रहे हो कि कुटिल हूँ। नहीं नहीं, कुटिल तो तुम बिल्कुल नहीं हो। तुम तो साधु हो।" प्रभु ने हनुमान जी को हृदय से लगा लिया। हनुमान जी ने कहा – "प्रभो, मैं जब ब्राह्मण के वेश में आया, तब तो आप दूर से बात कर रहे थे और जब मैंने अपने दोषो को बता दिया, तब आपने मुझे अपने हृदय से लगा लिया।" हनुमान जी की बातें सुनकर प्रभु को बड़ा आनन्द आ रहा है। बोले – "हनुमान, यह जो तुमने कहा कि मैं मोहग्रस्त हूँ, मन्द हूँ, कुटिल हूँ और अज्ञान हूँ, तो यह तुम्हारा अज्ञान भी बहुत बढ़िया है। जिसने अपने दोषों को, अपनी अपूर्णता को जान लिया, उसका अज्ञान तो ज्ञान से भी धन्य है। तुमने ईश्वर को भी पहचान लिया, अपनी अपूर्णता और ईश्वर की पूर्णता को भी जान लिया, यह तो बड़ा उत्कृष्ट ज्ञान है। और तुम्हारी कुटिलता भी बहुत बढ़िया है, जो अपने दोष और कुटिलता को स्वयं बता रहे हो। तुम्हारी यह कुटिलता तो सरलता की पराकाष्ठा है। और जब यह कहते हो कि मन्दबुद्धि हूँ, तो बुद्धि की सार्थकता और क्या हो सकती है? अपने दोष और भगवान के गुण को जान लेना ही तो बुद्धि की सार्थकता है। अब इसे तुम मन्द कहते हो तो धन्य है तुम्हारी मन्दबुद्धि।

भगवान श्रीराम और हनुमान जी के इस वार्तालाप में बड़ा सांकेतिक तत्व है। बड़ा सुन्दर विनिमय हुआ। भगवान ने अपनी कथा सुनाई और हनुमानजी ने अपनी दीनता। जीव ने अपनी दीनता और भगवान को तथा उनकी पूर्णता को जान लिया। इसका अभिप्राय क्या है? यह जो ईश्वर और जीव के बीच संवाद है, प्राय: व्यक्ति भगवान की कथा सुनता है पर इसकी समग्रता कब है? जब भगवान भी हमारी-आपकी कथा सुनें। इससे लाभ क्या होगा? व्यक्ति जब भगवान की कथा सुनेगा, तो उसे जीवन में आनन्द की अनुभूति होगी और बेचारा जीव जब अपनी कथा भगवान को सुनाएगा, तब भगवान के हृदय में करुणा का उदय होगा। प्रभु ने हनुमान जी

से कहा – हनुमान, मैंने तो तुमसे कहा था – "हे विप्र, तुम अपनी कथा समझाकर कहो –

कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ।। ४/२/४

पर तुम तो कथा के स्थान पर व्यथा सुनाने लगे।" हनुमान जी ने कहा – महाराज, जीव के पास तो व्यथा की ही कथा है और कोई कथा तो है नहीं। इसका सांकेतिक अभिप्राय यह है कि जीव अपूर्ण है, अल्पज्ञ है, मोहग्रस्त है, पर इतना होते हुए भी यदि उसे अपनी अपूर्णता, अल्पज्ञता का ज्ञान है और जैसा कि हनुमान जी भगवान से कहते हैं कि 'प्रभु, मैं मन्द हूँ, मोहवश हूँ, कुटिल हूँ और अज्ञानी हूँ,' यदि व्यक्ति में इतनी सरलता और निरभिमानी आ जाय, तो वहाँ सारी समस्याओं का समाधान होने में देर नही लगती।

रावण की समस्या क्या है? उसके जीवन में जितना तीव्र मोह और अन्धकार है, उतना भला और कहाँ होगा? हनुमान जी जब रावण की सभा में उपदेश देते हैं, रावण को समझाते हैं, तो रावण से इन्हीं दोनों को छोड़ने के लिए कहते हैं। वे रावण से हाथ जोड़कर कहते हैं, रावण तुम मेरी बात मानो, तुम इन दो वस्तुओं को छोड़ दो – तुम्हारे जीवन में मोह और तमोमय अभिमान है, इनका त्याग कर दो –

मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान । ६/२३

इसका सीधा अर्थ यह है कि व्यक्ति साधन करता हुआ भगवान की कृपा से इस मोह और अभिमान पर विजय प्राप्त कर ले, तो जीवन में शान्ति ही शान्ति है, भक्ति ही भक्ति है। और जब तक जीवन में मोह और अभिमान – ये दोनों शत्रु विद्यमान हैं, तब तक न भक्ति आ सकती है, न शान्ति।

जनकपुर में धनुर्भंग के प्रसंग में और यहाँ लंका में अंगद के चरण के प्रसंग में गोस्वामी जी कहते हैं – विषयी लोग मोह रूपी वृक्ष को नहीं उखाड़ सकते –

मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी । ६/३४/१४

यह जो रूपक दे रहे हैं, इसका अभिप्राय क्या है? इस प्रकार उन्होंने दोनों ही प्रक्रियाओं का उल्लेख किया। जनकपुर में रावण अहंकार के धनुष को नहीं तोड़ पाया, इसलिए सीताजी नहीं मिलीं और यहाँ लंका में मोह के वृक्ष को उखाड़ने में सफलता नहीं मिली, इसलिए सीताजी लंका में रहते हुए भी रावण को प्राप्त नहीं हो सकीं।

❖ (क्रमशः) ❖

जीने की कला (२३)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

झूठे आरोपों पर ध्यान न दो

अपनी आलोचना सुनने पर तुम उस पर कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हो? क्या तुम्हारे लिए सत्य और रचनात्मक आलोचना को भी स्वीकार करना कठिन है? क्या तुम अपनी गल्तियो और दुर्बलताओं को सुधारने में हिचकते हो? जीवन मे उन्नति के विषय में तुम्हें हिचकना क्यों चाहिए?

वस्तुत: तुम्हें लोगों द्वारा अपनी समालोचना से चिन्तित नहीं होना चाहिए। क्या तुम सोचते हो कि अन्य लोग केवल तुम्हारे बारें में ही सोचा करते हैं? डेल कारनेगी के अनुसार उन लोगों का अपना सिरदर्द ही उनकी चिन्ता का कारण है। यदि मान भी लिया जाय कि लोगों ने तुम्हारी कुछ कटु आलोचना की हैं, तो क्या तुम सोचते हो कि उनकी आलोचना समुचित विचारशीलता और तुम्हारी परिस्थिति के अध्ययन का परिणाम थी? एक कन्नड़ कहावत है – 'छिद्रान्वेषी लोग सभी अच्छे कार्यों को सदैव तुच्छ बताते रहते हैं।' यदि अन्य लोग तुम्हारे प्रति सच्चा प्रेम और सहानुभूति नहीं रखते, तो वे तुम्हारे त्याग और बलिदान को भला कैसे समझ सकते हैं?

सम्भवत: दूसरों द्वारा की गई तुम्हारी आलोचना में कुछ सत्य भी हो। आलोचना में प्राय: कुछ मनमौजीपना, कुछ प्रभाव डालने की ललक और कुछ दूसरों को अपमानित करने की इच्छा का ही प्राधान्य होता है। अधिकांश आलोचनाओं की पृष्ठभूमि में आलोचक की असहिष्णुता और ईर्ष्या विद्यमान रहती हैं और आलोचक दूसरो के दोष निकालकर एक प्रकार का विकृत या परपीड़नकारी सुख प्राप्त करते हैं। यदि तुम उनकी आलोचनाओं से सचमुच विक्षुब्ध हो जाते हैं, तो लगता है कि तुममें आत्मविश्वास की कमी है। यदि तुम आत्मविश्वासी और कर्तव्य-परायण हैं, तो दूसरों की बेवजह और अनुचित आलोचनाएँ तुम्हें जरा भी प्रभावित नहीं करेंगी।

ऐसे आलोचकों के बारे में तुम्हें एक चीज जान लेनी चाहिए। दूसरों की आलोचना करने से उनका अहंकार बढ़ जाता है। दोषद्रष्टा सामान्यतया स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठतर समझता है। कुछ मामलो मे, इससे उनके अहं की सन्तुष्टि होती है कि हम भी कोई कम बुद्धिमान नहीं हैं।

अपने से अधिक सुयोग और सफल लोगों की आलोचना करके लोग एक प्रकार का स्थूल आनन्द प्राप्त करते हैं। कुछ लोग अपनी भाषा के ऊपर अपनी पकड़ को प्रदर्शित करना चाहते हैं। और ऐसा करते समय उन्हें ध्यान नही रह जाता कि वे किस प्रकार की आलोचना में लिप्त हो रहे हैं।

दूसरो द्वारा बुद्धिमान और विवेकवान माने जानेवाले कुछ लोग यह सोचते हैं कि दूसरों को गुणों की प्रशंसा करना मानो अपनी कमी को स्वीकार करना है। इसलिए वे लोग दूसरों की किसी प्रकार की प्रशंसा से विरत रहते हैं, परन्तु सही या गलत किसी आलोचना करने में नहीं हिचकिचाते।

माँ को अपना काला-कलूटा पुत्र भी सुन्दर-सलोना दिखता है। पर वही पड़ोस के किसी दूबले सॉवले बालक को देखकर वह उसका उपहास करते हुए कहती है, "अरे, उसके पैर तो ताड़ के वृक्ष के समान हैं, चेहरा काले तवे के समान है।" एक बार मैंने अपने एक परिचित से कहा, "लगता है कि बाढ़ में सौ से भी अधिक लोग मर गए हैं।" उसने कहा, "अफसोस ! जनसंख्या कितनी तेजी से बढ़ती जा रही है ! भगवान इसे घटाने के लिए कोई योजना तो बनाएँगे ही ! जन्म लेनेवालों को एक-न-एक दिन किसी-न-किसी बहाने मरना ही है।" परन्तु मान लीजिए कि यदि उस बाढ़ में उसका कोई सगा-सम्बन्धी मर गया होता और हम उससे कहते, "वह तो केवल विश्व के जनसंख्या के आधिक्य को रोकने के लिए मरा है।" तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होती?

लोग अपने से जूड़े विषयों पर बातें करने समय भावुक हो उठते हैं, परन्तु वे ही दूसरों से जुड़े मसलों का विश्लेषण करते समय शुष्क युक्तिवादी हो जाते है। अधिकांश आलोचनाएँ इसी कोटि की होती हैं। दूसरों के दुख-कष्टों को सहानुभूति और समझदारी की दृष्टि से देखने के लिए एक आध्यात्मिक दृष्टिकोण की जरूरत पड़ती है। सभी लोगों में ऐसी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि नही होती।

आप किसी कार्य को कितनी भी अच्छी तरह भले ही क्यों न सम्पादित कर लें, आलोचना की कुछ-न-कुछ सम्भावना बनी ही रहती है। आलोचना तुम्हें सजग करने हेतु चेतावनी की घण्टी मात्र है। एक अँग्रेज विद्वान् के अनुसार, यदि आलोचना से पूर्णतया मुक्त होना हो, तो "कभी कुछ मत कहो, कभी कुछ मत करो, कभी कुछ मत बनो।"

एक संन्यासी एक खुले मैदान में लेटे थे। तकिए के नाम पर उनके सिर के नीचे एक ईंट रखी थी। किसी पथिक ने व्यंग्य किया, "देखो, सर्वत्यागी संन्यासी को भी तकिए की

जरुरत है।'' अगले दिन वह संन्यासी बिना ईंट लगाये ही लेटे थे, तो उसी व्यक्ति ने फिर टिप्पणी की, ''वाह ! कैसा योगी है ! इसका ध्यान इसी ओर लगा रहता है कि लोग मेरे बारे में क्या कहते हैं !'' सन्तों की एक लोकप्रिय सूक्ति है – ''हे भगवान ! हम आपको प्रसन्न करने में समर्थ हो सकते हैं, परन्तु मनुष्यों को प्रसन्न करना असम्भव है !''

गौतम बुद्ध ने कहा, ''लोग मौनी की निन्दा करते हैं, बोलनेवाले की निन्दा करते हैं और अल्पभाषी को भी नहीं छोड़ते। संसार की आलोचना से कोई भी नहीं बच सकता।''

हाँ, कोई भी आलोचना से पूर्णत: नहीं बच सकता। आइंस्टीन का 'सापेक्षता का सिद्धान्त' प्रकाशित होने पर स्वयं वैज्ञानिकों ने ही इसका 'एक मूर्खतापूर्ण सिद्धान्त' के रूप में उपहास किया था। आलोचना बिल्कुल हृदयहीन होती है। आलोचना व्यक्तियों का कोई सम्मान नहीं करती।

आलोचक कुछ भी कह सकते हैं। परन्तु यदि तुम आश्वस्त हो कि उनकी बातें निराधार हैं, तो तुम उनकी उपेक्षा कर सकते हो। तुम भगवान से प्रार्थना कर सकते हो, ''हे प्रभो ! उनकी कटु आलोचनाओं के प्रति मुझे बहरा बना दीजिए।''

आत्मालोचन - एक कसौटी

ह्यूबर्ड ने कहा था, ''प्रत्येक मनुष्य दिन भर में कम-से-कम पाँच मिनट मूर्ख सदृश व्यवहार करता है।'' हम चाहे जितने भी बुद्धिमान हों, चाहे जितने भी भाग्यवान हों, हम निष्कलंक या बेदाग नहीं हैं। निश्चय ही हम पूर्ण नहीं हैं। हम अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हो सकते हैं, हमारे पास लम्बा अनुभव हो सकता है, फिर भी हम गल्ती कर सकते हैं। हम अपनी ही गल्ती के प्रति अनभिज्ञ हो सकते हैं। अथवा उसे जानकर भी हम उसकी उपेक्षा कर सकते हैं। अथवा यदि हमने अपने चरित्रबल के फलस्वरूप कष्ट उठाया हो और उसकी परवाह न की हो, तो इस कारण भी लोग हमारी आलोचना कर सकते हैं। परन्तु आलोचना यदि सत्य और रचनात्मक हो, तो हमें उससे मुँह क्यों मोड़ना चाहिए?

एक ज्ञानी व्यक्ति ने एक बार कहा था, ''हमारे बारे में हमारे अपने सगों की अपेक्षा हमारे दुश्मनों द्वारा कही बातें प्राय: सत्य के अधिक निकट हुआ करती हैं। जिस प्रकार हम अपनी पीठ नहीं देख सकते, उसी प्रकार हम अपनी कमियों को नहीं समझ पाते। कभी कभी सत्य व रचनात्मक आलोचना भी हमें अनुचित, कटु व मिथ्या प्रतीत होती हैं और इस प्रकार हम खुद को धोखा देते हैं। अत: जब तक तुम पूर्णतया निश्चिन्त और आश्वस्त नहीं हो कि कोई आलोचना निराधार है, तब तक उसकी उपेक्षा करना बुद्धिमानी नहीं है।

लगभग सभी प्रकार की आलोचनाओं से बचने का एक उपाय है, ''स्वयं ही अपने कठोरतम आलोचक बन जाओ।''

याद रखो – आलोचना को प्रत्यालोचना से शान्त नहीं किया जा सकता। आलोचक को अपना मित्र समझकर प्रेम और आत्मविश्वास के साथ उस पर विश्वास करो। यदि आलोचक को यह पता चल जाता है कि आप उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं तो उसकी आलोचना की धार मन्द पड़ जाती है।

क्या केवल स्तुति और प्रशंसा की आशा करना उचित है? एक लेखक ने एक बार कहा था, ''लोग पाँच मिनट में ही, दस वर्षों के कठिन परिश्रम से लिखी गई पुस्तक के पन्ने पलटकर कह बैठते हैं, 'आपकी पुस्तक अच्छी है।' मैं ऐसी प्रशंसा से ऊब चुका हूँ।'' कुछ लोग तुम्हारे प्रति आदर भाव के कारण, तुम्हारे कुछ ऐसे गुणों का बखान कर सकते हैं, जो वस्तुत: तुममें नहीं हैं। कुछ लोग तुम्हारे सामने चापलूसी करके पीठ पीछे कहते हैं, ''देखो, मैंने तो बड़ाई के दो शब्द ही कहे और वह अहंकार से कैसा फूल गया है !'' कुछ अन्य लोग अपना काम निकालने के लिए तुम्हारी प्रशंसा के पुल बाँध देते हैं। तुम्हारा ठीक मूल्यांकन करने तथा अपना स्पष्ट मत बतानेवाले लोग अत्यन्त विरल हैं। यदि तुम इस बात को समझ लो, तो चापलूसी से सहज ही प्रभावित नही हो सकोगे।

स्वामी रामतीर्थ से एक बार एक आगन्तुक ने कहा, ''लोग आपको पसन्द नहीं करते।''

स्वामी रामतीर्थ ने उत्तर दिया, ''सेव अच्छा लगने पर लोग उसे खा जाते हैं; बेर अच्छा लगने पर भी वे उसे खा जाते हैं; माँस अच्छा लगने पर भी वे उसे भी खा जाते हैं। अच्छा है कि वे मुझे पसन्द नहीं करते। नहीं तो, यदि मैं उन्हें अच्छा लगता, तो वे मुझे भी खा गए होते।''

खुशामदी के गुलाम हो जाने पर हम अपने आदर्श से च्युत हो जाते हैं। तब हम प्रसन्न रहने के लिए सदैव चापलूसी पर निर्भर हो जाते हैं। तब हमारा जीवन अपने नियंत्रण में नहीं रह जाता। और तब हम समय पर भी नियंत्रण नहीं रख पाते। इमर्सन ने कहा था, ''यह कभी मत पूछो कि संसार क्या कहेगा, लोग क्या कहेंगे। अपना कर्तव्य करते रहो। जो व्यक्ति जीवन में अपने लक्ष्य-प्राप्ति की ओर ही अपना ध्यान केन्द्रित रखता है, मनुष्यों में वही सर्वाधिक सुखी है।''

कार्यकुशल बनो, साहसी बनो

एक बार भारतीय जीवन बीमा निगम के एक वरिष्ठ अधिकारी ने मुझे बताया था कि वे अपनी सुदीर्घ सेवा-अवधि के दौरान, प्रेम और विश्वास के जरिए अपने सैकड़ों अधीनस्थों के ऊपर नियंत्रण स्थापित करने में सफल हो सके थे –

''सभी दफ्तरों के समान ही मेरे दफ्तर में भी तीन प्रकार के कर्मचारी थे। उनमें से दो या तीन कर्मचारी तो बड़े सच्चे, ईमानदार, कुशल और आज्ञाकारी थे। दो कर्मचारी अनुशासन-हीन, विध्वंशक मानसिकता वाले, शरारती और कामचोर थे।

अन्य सभी इन दो श्रेणियों के बीच के थे। ये लोग इस दल से उस दल आते जाते रहते थे। ये ढुलमुल स्वभाववाले कर्मचारी इच्छा होने पर अच्छा काम कर लेते थे। इनमें से सभी के साथ एक ही ढंग का बर्ताव नहीं हो सकता था। प्रत्येक का स्वभाव भिन्न भिन्न था। हर कर्मचारी का स्वभाव और व्यवहार जानने के लिए उसकी पृष्ठभूमि का अध्ययन करना आवश्यक था। उनकी नाराजगी और अनुशासनहीनता के कारणों में से कुछ थे – पारिवारिक समस्याएँ, प्रोन्नति के अवसरों की कमी के कारण उपजी निराशा, पिछले नियोक्ता के साथ विवाद की कटु स्मृतियाँ, अपनी पसन्द की जगह पर तबादला न होने से उपजी निराशा, नेता बनने की आकांक्षा, स्वभावगत आलस्य, शरारती स्वभाव आदि। उन समस्याओं में से एक का भी समाधान निकालना मेरे वश की बात न थी। मैं केवल उनके प्रतिकूल प्रभाव को कम करने का प्रयास करके उनके भीतर से कार्य-कुशलता व्यक्त करा सकता था।

"निष्ठावान कर्मचारियों के लिए मुझे ज्यादा माथापच्ची नहीं करनी पड़ी। मैं यदा-कदा उनके कार्यों के प्रति अपना अनुमोदन प्रकट करके उनके लिए अपना प्रेम, विश्वास तथा आदर प्रकट कर दिया करता था। मैंने सावधानी बरती कि कहीं इसमें कृत्रिमता का आभास न हो। किसी कार्यालय का वातावरण बड़ा ही संवेदनशील होता है। यदि एक अच्छे कर्मचारी की प्रशंसा की जाती है, तो अन्य कर्मचारी सामान्यतया ईर्ष्यालु बन जाते हैं और फिर उनके कामचोर और आलसी बन जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। अत: मुझे अत्यन्त सजग और सचेत रहना था। कई बार मैं उन कर्मचारियों के साथ एकान्त में बैठकर उनके प्रति अपनी प्रशंसा व्यक्त करता था। मैं यह दर्शाने के लिए पर्याप्त कारण दिखाता था कि मेरी यह प्रशंसा उचित है।"

"दूसरी श्रेणी के कर्मचारी किसी रणनीति के वशवर्ती नहीं थे। वे यूनियन के नेतागण थे, जिनके मन में यह पूर्वाग्रह था कि एक वर्ग के रूप में अधिकारी ही उनके शत्रु थे। यद्यपि वे बुद्धिमान और समझदार थे, परन्तु वे अपने पूर्वाग्रह पर अटल थे। वे इस विचार को छोड़ नहीं सके थे। मैंने पाया कि वे भी कभी कभी सद्भावना रखना चाहते थे, परन्तु विरोध की अपनी घोषित नीति के कारण वे अपनी अच्छाई को दबाने का प्रयत्न करते थे। चूँकि मैं यूनियन के नेताओं की समस्या से अवगत था, इसलिए मैं उनके साथ सहानुभूति, समझदारी और सौहार्द्र की मानवीय भावना रखकर व्यवहार करता था। यह मेरे स्वभाव के अनुकूल था। प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वभाव, अपनी शक्ति और अपनी सीमाएँ होती हैं। अन्तत: यही बात महत्त्वपूर्ण होती है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के उपयुक्त जीवन-प्रणाली बनानी होती है और किसी अन्य की नकल नहीं करनी चाहिए। मेरा मार्ग ईमानदारी और सहानुभूति का था। इसका परिणाम आने में कुछ समय अवश्य लग सकता है, परन्तु परिणाम दीर्घस्थायी होते हैं। किसी प्रकार की युक्ति या चाल मेरे वश के बाहर थी। मैं अस्थायी चमत्कारों में विश्वास नहीं करता था। कुछ घण्टों के लिए किसी को मूर्ख बनाकर उनसे कुछ करा लेने की चाल मुझे अच्छी नहीं लगती थी। मेरे अधिनस्थ कर्मचारी मेरे साथ कम-से-कम तीन या चार वर्षों तक रहते थे। यह एक दीर्घकालिक सम्बन्ध हो जाता था। मुझे कर्मचारियों के साथ व्यवहार का अपना निजी मार्ग ढूँढ़ना पड़ा था। निस्सन्देह, हमारी कम्पनी में अधिकारियों के पास पर्याप्त अधिकार थे, परन्तु वे केवल कागजी ही रह जाते थे। कर्मचारियों के विरुद्ध उनका प्रयोग कर पाना अत्यन्त कठिन था। इन अधिकारों के प्रयोग का अर्थ था यूनियनों का विरोध मोल लेना। मैं अनुभव के आधार पर आश्वस्त था कि सही समाधान निकालने के लिए कानूनी उपायों को लागू करना व्यर्थ था। इन सभी कारणों से, समस्या से निपटने के लिए मेरे पास ईमानदारी, निष्ठा तथा मानवीय गुणों के प्रयोग करने का विकल्प ही बचा था।"

"पहले के कुछ महीनों तक ये लोग सन्देहों से घिरे रहे कि मैं गुप्त रूप से उनकी आँखों में धूल झोंकने का प्रयास कर रहा हूँ। मैं उनके आक्रामक व्यवहार को सहता रहा। जब कभी उत्तर देना अपरिहार्य हो जाता, तो मैं उचित तर्क किया करता था। यदि असावधानीवश कोई भूल हो जाती, तो मैं उसे स्वीकार करके भूल-सुधार का प्रयत्न करता। अपने लिए निर्धारित कार्यों को मैं पूरी एकाग्रता के साथ सम्पन्न करता था। उन दिनों मैं सुबह के ९.३० बजे से रात के ९ बजे तक कार्य किया करता था। वस्तुत: तब बहुत-से कार्य करने होते थे। इसके अतिरिक्त अपने स्टाफ के साथ विश्वसनीयता बनाए रखना भी आवश्यक था। धीरे धीरे मैंने पर्याप्त ज्ञान और अनुभव प्राप्त कर लिया। मेरे भीतर असाधारण आत्मविश्वास और नैतिक साहस आ गया। कार्यालय में अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक समय तक रहने और अधिकतम कार्य सम्पादित करने के कारण मुझमें श्रेष्ठता का भाव भी जाग्रत हो गया। मैंने दूसरों से कार्य करवाने का नैतिक बल प्राप्त कर लिया। इसके साथ ही मैं धैर्य रूपी सद्गुण का भी अभ्यास करता रहा। क्रोध और चिड़चिड़ेपन को नियंत्रित करना मेरे लिए एक बड़ी चुनौती थी। मैंने यह अनुभव कर लिया था कि अनियंत्रित भावनाओं के विस्फोट से एक छोटी-सी भी समस्या कैसा गम्भीर रूप धारण कर सकती है। तब से मैंने सतत अभ्यास द्वारा आत्मसंयम सीखने का मन बना लिया। इससे प्रारम्भ में गम्भीर मानसिक तनाव होने लगा। परन्तु मैं यह भलीभाँति जानता था कि अनियंत्रित वाणी किस प्रकार सारा गुड़-गोबर कर सकती है। इसलिए मैंने धीरे धीरे आत्म-नियंत्रण की कला को आत्मसात कर लिया।

परम्परा से ही बीमा एजेंटों को बीमा कारोबार का मेरुदण्ड माना जाता है। कुछ एजेंट बड़े झगड़ालू होते हैं। वे अपनी माँगों को तुरन्त पूरी करने की अपेक्षा रखते हैं। न होने पर, वे झल्लाकर वरिष्ठ अधिकारियों से गुमनाम शिकायतें करने लगते हैं। ऐसे ही एक एजेंट ने एक सुविधा की माँग की जो स्वीकार्य न थी। सम्बन्धित अधिकारी ने उसकी मंजूरी नहीं दी। वह एजेंट क्रुद्ध हो गया। वह हमें और हमारी कम्पनी को बुरा-भला कहते हुए चिल्लाने लगा, "तब आप एजेंटों को अपने कारोबार का मेरुदण्ड क्यों कहते हैं?" अपने कर्मचारियों का बचाव करने की गरज से मैंने कहा, "मेरुदण्ड तो हमेशा पीछे ही होता है, न कि सामने।" कार्यालय के सारे कर्मचारी जोर जोर से हँसने लगे। एजेंट इसमें अपना अपमान समझकर लौट गया। दफ्तर के कर्मचारी प्रसन्न थे। परन्तु बाद में मुझे पता चला कि उसने उच्च अधिकारियों के पास मेरे खिलाफ शिकायत भेजी थी। चूँकि वे उच्च अधिकारी मेरी सत्यनिष्ठा के बारे में जानते थे, अत: वे उस शिकायत से विचलित नहीं हुए। उन लोगों ने भी उस शिकायत की उपेक्षा कर दी। ऐसी घटनाएँ कई बार घटीं थीं।"

प्रेम किसी के जाति या वर्ग को नहीं पहचानता। पवित्र प्रेम अधीनस्थ का दिल जीत सकता है तथा श्रेष्ठ लोगों की प्रशंसा दिला सकता है। हाँ, यही प्रेम का जादू है।

प्रेम सबसे बड़ा इलाज है

एक कहावत है, "युद्ध पहले मानव-मन में और तदुपरान्त युद्ध के मैदान में लड़े जाते हैं।" हाँ, सभी युद्धों का मूल उद्भव आपसी घृणा, ईर्ष्या और द्वेष, दूसरे शब्दों में कहें तो प्रेम के अभाव में है। घृणा की चिनगारी हृदयों को जलाने लगती है। यह ईर्ष्या, बेचैनी और असन्तोष की अग्नि को प्रज्वलित करती है। मनुष्य विवेक-शक्ति को गँवा बैठता है। प्रेम का स्रोत सूख जाने पर हमारे घृणास्पद की हर वस्तु, उसके तौर-तरीके, उसका व्यवहार, उसकी मुद्रा, उसके कार्य, उसका परिधान और उसकी कार्य-प्रणाली आदि असह्य हो जाते हैं। मन में उसके प्रति घृणा पैदा हो जाती है। उसका दु:ख हमारे लिए आनन्द-स्रोत बन जाता है। उसकी पीड़ा हमारे हर्ष का विषय बन जाती है। यह कैसी विडम्बना है!

प्रकृति का सावधानीपूर्वक निरीक्षण करनेवाले लोग उसके प्रेम के सन्देश को समझकर कभी हिंसा में लिप्त नहीं हो सकते। क्या हम मधुमक्खियों के स्पर्श से कभी पुष्पों को संकुचित होते हुए देखते हैं? कामधेनु क्या कभी अपने पास दूध दूहने के लिए आनेवाले व्यक्ति पर आक्रमण करती है? क्या मछलियों को परेशान करने के लिए कभी तुमने समुद्र को सूखते देखा है? क्या मनुष्यों की क्रूरता को देखते रहने के बाद भी सूर्य नित्य उदय होने से विरत होता है? प्रकृति माता के वक्ष से हमें प्रेम का अजस्र स्रोत बहता पाते हैं। वह हमें पवित्र और नि:स्वार्थ प्रेम का पाठ पढ़ाती है। समग्र मानवता के कल्याण हेतु प्रकृति निरन्तर यही सन्देश दे रही है।
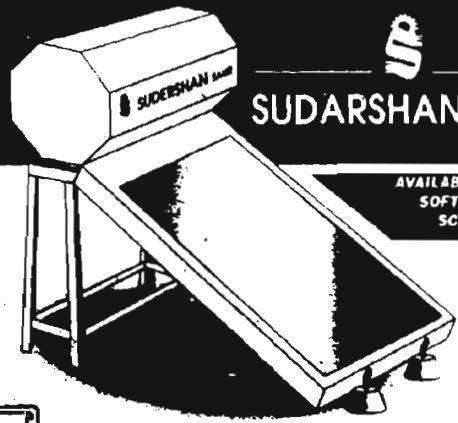
हाँ, यदि किसी मनुष्य का हृदय पवित्र हो जाय, तो वह दया और प्रेम का एक खजाना और स्नेह का धाम बन जाता है। यह प्रेम हमारे घरों से असन्तोष और अभाव-बोध को दूर भगाकर वहाँ विशुद्ध आनन्द और सुख के लिए जगह बना देता है। प्रेम सचमुच ईर्ष्या और असहिष्णुता को विनष्ट करनेवाली शक्ति है। चलिए हम सभी प्रेम की पुकार का उत्तर दें। सर्वत्र सुख-शान्ति और समृद्धि व्याप्त हो जाय! हम भेद-भाव को छोड़कर सभी लोगों के लिए पवित्र और अहैतुक प्रेम की वर्षा करें।

"सभी लोग सुख-शान्ति से रहें" – यही हमारा मंत्र बन जाय। यह मंत्र सदैव हमारी जिह्वा पर स्थित रहे।

❖ (क्रमश:) ❖

प्रयाग की महिमा

डॉ. राजलक्ष्मी वर्मा
(प्राध्यापिका, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय)

भारत की सांस्कृतिक परम्परा में प्रयाग क्षेत्र का अपना विशिष्ट स्थान है। सहस्रों वर्ष प्राचीन यह प्रयाग क्षेत्र भारत की सांस्कृतिक गतिविधियों तथा आध्यात्मिक चेतना का महत्वपूर्ण केन्द्र रहा है। इतिहास के पन्नों में अनेक बार अनेक प्रसंगों में यह नाम उभरा है। केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं संस्कृति, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में भी प्रयाग-क्षेत्र और परवर्ती इलाहाबाद नगर का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

जिस प्रकार काशी का अस्तित्व ई.पू. के साक्ष्यों के आधार पर निश्चित है, उसी प्रकार प्रयाग की स्थिति के भी अनेक उल्लेख ई.पू. के साहित्य और इतिहास में प्राप्त होते हैं।

पुराणों में प्रयाग से सम्बन्धित अनेक आख्यान प्राप्त होते हैं। प्रयाग के **नामकरण** से सम्बद्ध एक रोचक कथा है। कल्प के प्रारम्भ में नारायण विष्णु ने ब्रह्मा को सृष्टि करने का आदेश दिया। ब्रह्माजी बोले – भगवन्! मुझमें इतनी शक्ति और सामर्थ्य भला कहाँ है कि मैं ऐसी नानारूपात्मक चित्र-विचित्र सृष्टि का निर्माण कर सकूँ। इस पर भगवान ने ब्रह्मा को तप और यज्ञ करने का आदेश दिया और कहा कि तपस्या से तुम्हारा तेज बढ़ेगा और यज्ञ से तुम्हें सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त होगी। ब्रह्माजी ने देवनदी गंगा और सूर्यतनया यमुना की संगम-स्थली पर दस हजार वर्षों तक तप किया और संगम तट पर दत्त अश्वमेध यज्ञ सम्पन्न किए। इसी कारण, ब्रह्मा की प्रकृष्ट अर्थात् उत्कृष्ट यज्ञभूमि होने के कारण इस स्थान का नाम 'प्रयाग' पड़ा। जिस स्थान पर उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ किए, वह स्थान आज भी दशाश्वमेध नामक घाट के रूप में विद्यमान है। इस प्रकार पौराणिक सन्दर्भों के अनुसार प्रयाग सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की यज्ञभूमि व तपोभूमि रही है।

आज की झूँसी प्राचीन काल में प्रतिष्ठानपुर के नाम से प्रसिद्ध थी। प्रतिष्ठानपुर चन्द्रवंशीय राजाओं की राजधानी थी तथा ययाति और पुरुरवा जैसे पराक्रमी राजाओं का शासन उस पर रहा है। महाकवि कालीदास ने अपने नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' में प्रतिष्ठानपुर को उर्वशी और पुरुरवा की विहारभूमि के रूप में चित्रित किया है तथा गंगातट पर स्थित उनके 'सुगांग' नामक राजमहल का उल्लेख किया है।

प्रयाग को सभी तीर्थों का राजा कहा गया है, उसे **'तीर्थराज'** की उपाधि प्राप्त है। प्रयाग का विशेष महत्व गंगा, यमुना तथा लुप्त हुई सरस्वती नदियों के **संगम** के कारण है। भारतीय मनीषियों ने नदियों का संगम-स्थल सदैव ही पवित्र माना है, तपस्या तथा यज्ञादि के लिए उनका विशेष महत्व है। प्रयाग का संगम देवनदी गंगा और सूर्यकन्या यमुना का संगम होने से विशेष महत्वपूर्ण है, क्योंकि इन दोनों नदियों का आधिभौतिक या दैवी दृष्टियों से विशेष माहात्म्य है। **गंगा** तो सभी नदियों में सर्वाधिक महत्त्वशालिनी मानी गयी है। देवनदी, सुरसरि, विबुधतरिनी आदि इनके नाम हैं, जो इसकी दिव्यता और महिमा सूचित करते हैं। भगवान विष्णु के चरण-नख से उत्पन्न होने के कारण इसे ब्रह्मद्रव कहा गया है, अर्थात् जलरूप में यह साक्षात् ब्रह्म ही है। इनके दर्शनमात्र से मुक्ति प्राप्त होती है – **गंगे, तव दर्शनात् मुक्तिः**। महाकवि तुलसीदास ने गंगा को सभी प्रकार के सुख एवं कल्याण का मूल बताया है। वे सभी कष्टो का निवारण करनेवाली हैं —

गंग सकल मुद मंगल मूला।
सब सुख करनि हरनि सब सूला।।

प्रयाग को तो तुलसीदास सर्वत्र 'तीर्थराज' ही कहते हैं —

कीन्ह निमज्जनु तीरथराजा।
नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा।।
मुनि समाजु अरु तीरथराजू।
साँचिहुँ सपथ अघाइ अकाजू।।

सूर्यतनया यमुना भी यमराज की बहिन होने के कारण यमलोक से त्राण दिलानेवाली हैं। इन दोनों की संगम-स्थली होने के कारण प्रयाग संगम का पर्याय ही बन गया, और जहाँ जहाँ दो नदियों का मिलन हुआ उस स्थान का नाम 'प्रयाग' पड़ गया। उत्तराखण्ड में देवप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग आदि अनेक प्रयाग हैं।

प्रयाग केवल गंगा-यमुना के संगम के ही कारण नहीं अपितु **अक्षयवट** के कारण भी प्रसिद्ध है। पुराणों के अनुसार यही वह वटवृक्ष है, जो प्रलयकाल में भी नष्ट नहीं होता और जिसके पत्ते पर भगवान शिशुरूप धारण कर विश्राम करते हैं। परम्परा है कि वही वटवृक्ष आज भी गंगातट पर स्थित किले के भीतर मौजूद है। वटवृक्ष हिन्दू धर्म की अविचल आस्था, प्राचीनता और दृढ़ता का प्रतीक है। अपने इस आध्यात्मिक और धार्मिक महत्त्व के कारण प्रयाग अनेक सन्तों और विद्वानों का कार्यक्षेत्र और तपोभूमि रहा है। यहीं संगम के तट पर **भरद्वाज मुनि का आश्रम** था जहाँ वन जाते समय श्रीराम ने भरद्वाज ऋषि के दर्शन किए थे। यह आश्रमस्थली आज भी विद्यमान है। यद्यपि गंगा इससे काफी दूर चली गई है।

आठवीं सदी के प्रसिद्ध दार्शनिक व तत्त्ववेत्ता श्री **शंकराचार्य** का भी आगमन इस क्षेत्र में हुआ था। यही पर उनकी भेंट प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट से हुई थी। कुमारिल भट्ट मीमांसक थे। बौद्धों के मत का खण्डन करने के लिए उन्होंने छद्मवेशी बौद्ध बन कर नालन्दा में बौद्ध सिद्धान्तों का अध्ययन किया था। अपने ही गुरु को शास्त्रार्थ में परास्त कर उन्होंने बौद्ध धर्म का उन्मूलन कर वैदिक धर्म की स्थापना की, किन्तु अपना कार्य पूरा करने के पश्चात् उन्होंने गुरुद्रोह का प्रायश्चित किया और तुषानल में जीवित ही जलकर प्राण त्यागे। जिस समय वे तुषानल में अपना शरीर दग्ध कर रहे थे, उसी समय शंकराचार्य ने उनके दर्शन किए तथा अपना सिद्धान्त उन्हें सुनाकर आशीर्वाद प्राप्त किया।

मध्ययुग में भारतीय अध्यात्म और धर्म के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व क्रान्ति हुई और आध्यात्मिक चेतना की ऐसी लहर उठी कि उसने समस्त जनमानस को आप्लावित कर दिया। इस युग में अनके प्रतिभाएँ उत्पन्न हुई जिनका योगदान धर्म और दर्शन के क्षेत्र में अप्रतिम रहा। इनमें से अनेक महापुरुषों की निवासभूमि प्रयाग क्षेत्र रहा है। विशुद्धाद्वैत दर्शन के व्याख्याता तथा पुष्टिमार्ग के संस्थापक **वल्लभाचार्य जी** का यह स्थायी निवास था। अष्टछाप के समस्त कृष्णभक्त कवि इनकी ही शिष्य परम्परा में थे। वल्लभाचार्य ने वर्षों गंगा के पास अरैल में निवास किया, आज भी उनका भवन महाप्रभु वल्लभाचार्य की गद्दी के रूप में प्रसिद्ध है। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के संस्थापक श्री **चैतन्य महाप्रभु** ने भी दीर्घ समय तक प्रयाग में निवास किया; यहीं पर उनकी भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से भी हुई। प्रयाग में उन्होंने रूप गोस्वामी तथा जीव गोस्वामी को दीक्षा दी जो आगे चल अपने सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् तथा साहित्यकार हुए। अनेक प्रामाणिक जनश्रुतियों के अनुसार **सन्त मलूकदास** ने भी अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग यहीं बिताया।

इस प्रकार समय समय पर अनेक महापुरुषों, सन्तों और विद्वानों ने प्रयाग को अपना निवास और कर्मक्षेत्र बनाया। प्रयाग के वातावरण की दिव्यता और पवित्रता को देखते हुए ही **महाराज हर्षवर्द्धन** ने यहाँ प्रतिवर्ष होने वाले धार्मिक सम्मेलन की परम्परा प्रारम्भ की जो आज तक **'माघ-मेले'** के रूप में अक्षुण्ण है। इस अवसर पर श्री हर्ष प्रयाग में आकर अपना सर्वस्व दान करते थे, तथा अपनी बहिन राजश्री से माँगकर वस्त्र धारण करते थे।

तीर्थराज प्रयाग में गंगा यमुना के संगम पर संभवत: विश्व का यह सबसे अद्भुत मेला लगता है। सारे संसार में कहीं भी प्रति वर्ष इतना विशाल धार्मिक और आध्यात्मिक समारोह आयोजित नहीं होता, जिसमें देश-विदेश से लाखों लोग आते हों और कुछ ही देर को सही, अपनी सीमित लौकिक चेतना में ऊपर उठकर आध्यात्मिकता का संस्पर्श प्राप्त करते हों। माघ मेले के नाम से विख्यात यह मेला पौष पूर्णिमा से महाशिवरात्रि तक चलता है, किन्तु मकर संक्रान्ति से वसन्त पंचमी तक इसकी विशेष शोभा रहती है। **मकर संक्रान्ति** का पर्व हिन्दुओं के प्रमुख पर्वो में से एक है। संक्रान्ति का पर्व का सम्बन्ध सूर्य के राशि संक्रमण से होता है। बारह राशियों में से प्रत्येक पर सूर्य एक मास तक रहता है इस अवधि को सौर मास कहते हैं। सूर्य जिस दिन एक राशि से दूसरी राशि में संक्रमण करता है, वही संक्रान्ति दिवस कहलाता है।

सभी संक्रान्तियों में मेष और मकर राशि की संक्रान्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण मानी गई है, जिनमें दान-पुण्य, यज्ञ-हवन तथा गंगा-स्नान का विशेष माहात्म्य बतलाया गया है। माघ के महीने में सूर्य धनु से मकर राशि मे संक्रमण करता है और अपनी उत्तरायण गति में प्रविष्ट होता है। सूर्य की यह गति अत्यन्त शुभ मानी गई है, इसीलिए शरशैया पर पड़े हुए भीष्म पितामह ने प्राण त्यागने के लिए सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा की थी। माघ मास से पड़नेवाली यह मकर संक्रान्ति पृथ्वी पर ऋतु-परिवर्तन तथा वसन्त की पुरोधा है और थोड़े ही समय पश्चात् वसन्त पंचमी का त्योहार पड़ता है जिसका स्वरूप प्राचीन काल से ही वसन्तोत्सव का रहा है।

इस माघ मेले में अनेक समाजसेवी और आध्यात्मिक संस्थाएँ अपने अपने शिविर लगाती हैं, साधु-सन्तों के प्रवचन होते हैं, देश के कोने कोने से आकर रास-मण्डलियाँ और रामलीला-मण्डलियाँ श्रीराम और श्रीकृष्ण के जीवन-प्रसंगों का अभिनय करती हैं। सूर्य की प्रथम किरण दिखने से लेकर देर रात तक गंगा तटपर एक अद्भुत उल्लास एवं उन्मुक्त आनन्द की सृष्टि होती रहती है। अनेक श्रद्धालु जन मकर संक्रान्ति से प्रारम्भ कर एक महीने तक गंगातट पर कल्पवास करते हैं तथा भजन-पूजन और हरि-कथा-श्रवण में समय बिताते हैं।

प्रयाग-क्षेत्र में इस माघ मेले की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। अतीत में अनेक ऋषि-मुनि इस अवसर पर प्रयाग पधारते थे और एक मास गंगा-स्नान कर यज्ञ-हवन और तत्त्वचर्चा में समय व्यतीत करते थे। उन दिनों गंगा **भरद्वाज ऋषि** के आश्रम के समीप ही बहती थी और उनका आश्रम ही इस सन्त-समागम का केन्द्र होता था। न केवल मनुष्य अपितु देवता, गन्धर्व और किन्नर भी आकर गंगा में स्नान करते थे और वेणीमाधव तथा अक्षयवट का पूजन करते थे। गोस्वामी तुलसीदास ने अपने मानस में मकर संक्रान्ति पर होनेवाले इस सन्त-समागम का इस प्रकार वर्णन किया है —

माघ मकरगत रवि जब होई।
तीरथपतिहि आव सब कोई ।।
देव दनुज किन्नर नर श्रेनी।
सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी ।।

पूजहिं माधवपद जलजाता ।
परसि अखयबटु हरषहिं गाता ।।
भरद्वाज आश्रम अति पावन ।
परमरम्य मुनिवर मनभावन ।।
तहाँ होय मुनि रिषय समाजा ।
जाहिं जे मज्जन तीरथराजा ।।
मज्जहिं प्रात समेत उछाहा ।
कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा ।।

यह जानने की बात है कि सन्त-समाज में याज्ञवल्क्य के द्वारा **रामकथा का सर्वप्रथम उपदेश** भी इसी अवसर पर हुआ था। महातपस्वी और परमज्ञानी याज्ञवल्क्य मुनि माघ मास में गंगा-स्नान करने प्रयाग आए हुए थे। यहीं पर भरद्वाज मुनि ने श्रीराम के तात्त्विक रूप के विषय में उनसे जिज्ञासा की थी और महर्षि याज्ञवल्क्य ने उन्हें रामकथा का उपदेश किया था।

इस प्रकार अनादि काल से माघ मास में घटनेवाली यह मकर-संक्रान्ति एक ज्ञान-पर्व रहा है जिसमें स्थूलता से आबद्ध, साधारण मनुष्य की चेतना मे भी आध्यात्मिक क्रान्ति घटती रही है। इस अवसर पर प्रयाग का 'तीर्थराज' नाम सार्थक होता है। देश-विदेश से जिज्ञासु, सन्त और विद्वज्जन गंगा-यमुना के तट पर एकत्रित होते हैं और भारत की सांस्कृतिक परम्पराओं और आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

प्रयाग क्षेत्र को उन चार स्थलों में से एक होने का गौरव प्राप्त है, जहाँ **कुम्भ पर्व** का आयोजन होता है। पक्षिराज गरुड़ और देवराज इन्द्र के पुत्र जयन्त में जब अमृत कलश के लिए संघर्ष हुआ, तो अमृत की कुछ बूँदे छलक पड़ी थीं। हरद्वार, उज्जयिनी, नासिक और प्रयाग – इन चार स्थलों पर अमृत-बिन्दु गिरे और इन चार स्थानों पर ग्रह-नक्षत्रों की गति के अनुसार हर बारह वर्ष पर कुम्भ पर्व पड़ता है, जो विशेष पुण्यकारी और माहात्म्य-सम्पन्न माना गया है।

प्रयाग के इस माहात्म्य के कारण अलंकार शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इसके नायक-नायिका-भाव की भी परिकल्पना की गई है। प्रयाग का ही नाम पुल्लिग में है, अन्य सभी तीर्थों की कल्पना स्त्री या नायिका-रूप से की गई है, जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है —

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची ह्यवन्तिका ।
पुरी द्वारवती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।

इस प्रकार मानवीकरण करते हुए प्रयाग को नायक तथा इन नगरियों को नायिका के रूप में रूपायित किया गया है। इस प्रकार प्रयाग का स्थान भारतवर्ष के सभी तीर्थो में अद्वितीय है। यह भारतीय संस्कृति के चेतना-बिन्दु के रूप में विद्यमान है तथा भारत के सांस्कृतिक मूल्यों की पूजा स्थली है। प्रति वर्ष माघ के महीने में गंगातट मानो युगों युगों की आध्यात्मिक तरंगों से सत्य-स्फूर्त हो जाता है, गंगा-यमुना के दैवी संगम को क्रोड में समेटे यह प्रयाग-क्षेत्र मानो पुनः ब्रह्मा के यज्ञों की धूमराशि से तपःपूत हो उठता है। यह प्रयाग का ही श्रेय है कि वह अनन्त अनन्त लोगों के श्रेय का संवाहक बनता है और हर बार आस्था का यह उद्घोष तुमुल जनकण्ठ मे गूँजता है – **"स तीर्थराजो जयति प्रयागः"** । ❑❑❑

प्रभु की ओर चला चल

डॉ. भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

रे मन ! प्रभु की ओर चला चल ।
पकड़ प्रेम की डोर चला चल ।।

अपने को पहचान स्वयं तू,
तू क्या है यह जान स्वयं तू ।
मत कर रे ! अभिमान जगत् में
कर अपना सन्धान स्वयं तू ।।

प्रियतम के चिर प्रेम-सिन्धु में
लेता हर्ष हिलोर चला चल ।
रे मन ! प्रभु की ओर चला चल ।।

चलता चल तू सँभल-सँभल कर,
अपने को निर्मल उज्ज्वल कर ।
श्रद्धा का सम्बल लेकर के,
तू अपना विश्वास अटल कर ।।

वह है अमृत-चन्द्र अलबेला,
तू बन तृषित चकोर चला चल ।
रे मन ! प्रभु की ओर चला चल ।।

भव-दव का उपचार वही है,
सुख का पारावार वही है ।
उसका प्यार न मरने वाला,
इस अग-जग का सार वही है ।

उस करुणामय के पथ पर तू,
होकर भाव-विभोर हुआ चला चल ।
रे मन ! प्रभु की ओर चला चल ।

❑❑❑

हितोपदेश की कथाएँ (१३)

('विग्रह' अर्थात् युद्ध नामक इस तीसरे भाग से आपने पढ़ा – कर्पूर द्वीप में पद्मकेलि नामक सरोवर में सभी जलचर पक्षियों का राजा हिरण्यगर्भ नामक राजहंस रहता था। दूर देश से लौटा दीर्घमुख नामक बगुले ने आकर उसे बताया कि जम्बु द्वीप में विध्य नाम का पर्वत पर पक्षियो का राजा चित्रवर्ण नामक मोर रहता है। उसने हमारे कर्पूर द्वीप को भी अपने ही राज्य के अन्तर्गत बताया और आपको युद्ध की चुनौती देने के लिए तोते को दूत बनाकर भेजा है। तोते द्वारा भेजी गई चुनौती स्वीकार कर ली गई और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। उधर राजा चित्रवर्ण मोर ने भी आक्रमण करने हेतु पूरी तैयारी के साथ कूच कर दिया। उधर राजा हिरण्यवर्ण हंस को अपने गुप्तचर से सूचना मिली कि शत्रु राजा ने आकर पड़ाव डाल दिया है और उसका एक गुप्तचर पहले से ही अपने यहाँ विद्यमान है। मंत्री द्वारा आगन्तुक कौए पर सन्देह व्यक्त किए जाने पर राजा सहमत नही होता। – सं.)

राजा बोला – "पुरानी कथाओं को दुहराने मात्र से यह कैसे निर्णय किया जा सकता है कि आगन्तुक अपना नि:स्वार्थ बन्धु है या विश्वासघाती। खैर, जाने दो इन बातों को। अब काम की बात पर विचार करो। यदि चित्रवर्ण मोर मलय पर्वत की तराई में आ पहुँचा है, तो हमें क्या करना चाहिए?"

मंत्री बोला – "महाराज ! वहाँ से लौटे दूत से सुना है कि चित्रवर्ण ने महामंत्री गिद्ध की बातों का अनादर किया है। अत: वह मूर्ख जीता जा सकता है। कहा भी है – 'लोभी, क्रूर, आलसी, झूठा, प्रमादी, डरपोक, चंचल, मूर्ख और वीरों का तिरस्कार करनेवाला शत्रु आसानी से जीता जा सकता है।'

"इसलिए उसके हमारे फाटक पर पहुँचने के पूर्व ही नदी, पर्वत तथा वन के रास्तों में उसकी सेना को नष्ट करने के लिए सारस आदि सेनापति नियुक्त कर दिये जायँ। कहा भी है – 'लम्बे मार्ग चलने से थकी, नदी-वन तथा पहाड़ से घिरी, भयानक आग लगने से भयभीत, भूख-प्यास से व्याकुल, मतवाली, भोजन में व्यस्त, रोग तथा अकाल से पीड़ित, अव्यवस्थित, वायु तथा वर्षा से परेशान, कीचड़-धूल तथा जल से घिरी और डाकुओं द्वारा पीछा की गई शत्रुसेना को नष्ट कर डालना चाहिए।' और – 'राजा को चाहिए कि आक्रमण के भय से रात भर जागने के कारण दिन में सोयी और नींद से व्याकुल शत्रुसेना को मार डाले।' अत: हमारे सेनापति वहाँ पहुँचकर मौका देखते हुए उस प्रमादी सेना का नाश करें।"

ऐसा करने पर चित्रवर्ण के काफी सैनिक व सेनापति मार डाले गए। इससे दुखी होकर चित्रवर्ण ने अपने दूरदर्शी नामक गिद्ध-मंत्री से कहा – "तात ! आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं? क्या मैंने कोई धृष्टता की है? कहा है – 'राज्य का प्राप्त हो जाना ही यथेष्ट नहीं है। क्योंकि अविनय भाव राजश्री को वैसे ही नष्ट कर देता है, जैसे बुढ़ापा उत्तम रूप को।' और –

दक्ष: श्रियमधिगच्छन्ति पथ्याशी कल्यतां सुखमरोगी।
उद्युक्तो विद्याऽन्तं धर्मार्थ-यशांसि च विनीत: ।।

– 'कार्यकुशल प्राणी लक्ष्मी को, संयम से खाने वाला आरोग्य को, नीरोगी व्यक्ति सुख को, परिश्रमी विद्या को और विनम्र व्यक्ति अर्थ, धर्म तथा यश को प्राप्त करता है।'

गिद्ध बोला – "सुनिए महाराज ! –

अविद्वान् अपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया।
परां श्रियमवाप्नोति जलाऽऽसन्नतरुर्यथा ।।

– 'राजा चाहे मूर्ख ही क्यों न हो, किन्तु ज्ञानीजनों का सेवन करके वह परम श्री को प्राप्त करता है। जैसे कि जल के समीप का वृक्ष सब तरह से सम्पन्न रहता है।'

और – 'मद्यपान, नारी, शिकार, जुआ, धन छीनना और वाणी व दण्ड में निष्ठुरता – ये राजाओं के दोष माने गए हैं।' और – 'सम्पत्तियाँ न केवल साहस से और न उपाय मात्र सोचने से आती हैं। वे तो नीति या वीरता से प्राप्त होती हैं। क्योंकि नीति और पराक्रम में ही सम्पत्ति का निवास रहता है।' लेकिन तुम केवल अपनी सेना का उत्साह देखकर ही उतावले हो गए, मेरी सलाह पर ध्यान नहीं दिया और उल्टा-सीधा बक गए। इसीलिए तुम अपनी दुर्नीति का फल भोग रहे हो। कहा भी है – 'दुष्ट मंत्रीवाले किस राजा में नैतिक दोष नहीं रहते? अपथ्य खानेवाले किस मनुष्य को रोग नही सताते? लक्ष्मी किसे उन्मत्त नहीं बना देती? मृत्यु किसे नही दबोचती और स्त्री-सम्बन्धी विषय किसे कष्ट नहीं पहुँचाते।' और – 'विषाद हर्ष को, हेमन्त ऋतु शरद को, कृतघ्नता सत्कर्म को और दुर्नीति सम्पत्ति को नष्ट कर देती है।' तब मैंने सोचा कि यह राजा बुद्धिहीन है, नहीं तो वह वचनरूपी लुआठी से नीतिशास्त्र की कथारूपी चाँदनी को बाधित क्यो करता।' क्योंकि –

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पण: किं करिष्यति ।।

– 'जिसको स्वयं बुद्धि नहीं है, उसको शास्त्रों से क्या लाभ? जैसे कि अन्धा व्यक्ति को दर्पण से भला क्या लाभ होगा?' यही विचारकर मैं चुप रहा।"

राजा ने हाथ जोड़कर कहा – "तात ! मुझसे गल्ती हुई। अब कोई ऐसा उपाय बताइए, जिससे कि मैं अपनी बची हुई सेना के साथ विंध्याचल को लौट सकूँ।"

महामंत्री गिद्ध ने सोचा – "अब कोई उपाय करना ही होगा, क्योंकि –

देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च।
नियन्तव्य: सदा कोपो बाल-वृद्धातुरेषु च ।।

– 'देवता, गुरु, गौ, राजा, ब्राह्मण, बालक, वृद्ध और रोगी पर कोप करना ठीक नहीं।' उसने हँसकर कहा – 'राजन्! डरिए नहीं, धैर्य रखिए। सुनिए – 'आपसी फूट के समय ही मंत्री की और सन्निपात में वैद्य की बुद्धि देखी जाती है। अच्छे हालात में कौन पण्डित नहीं होता।' और –

आरभन्तेऽल्पमेवाऽज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महाऽऽरम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः॥

– 'नासमझ लोग छोटा-सा कार्य आरम्भ करके भी बड़े परेशान हो जाते हैं, पर कुशल व्यक्ति बड़ा काम शुरू करके भी धैर्यवान बने रहते हैं।'

"हम आप के ही प्रताप से इस किले को भेद करके कीर्ति और तेज के साथ शीघ्र ही आपको विंध्याचल ले जाएँगे।" राजा ने कहा – "इतनी थोड़ी-सी सेना से यह काम कैसे पूरा होगा?" मंत्री बोला – "महाराज! सब होगा। क्योंकि विजय की अभिलाषा रखनेवाला यदि देरी न करे, तो उसकी विजय निश्चित रहती है। अतः आप शीघ्र ही किले को घेर लें।"

पूर्व से नियुक्त गुप्तचर ने आकर राजा हिरण्यगर्भ (राजहंस) को यह सूचना दी – "महाराज! गिद्ध की सलाह से थोडी-सी सेना लेकर ही राजा चित्रवर्ण आपके किले पर घेरा डालेगा।" राजा ने कहा – "सर्वज्ञ! अब क्या किया जाय?" चकवा बोला – "सबसे पहले आप अपनी सेना का बल तथा दुर्बलता देख लें। यह समझ लेने के बाद सैनिकों को स्वर्ण-वस्त्र आदि का पुरस्कार दें। क्योंकि – 'जो राजा अनुचित स्थान में पड़ी हुई एक कौड़ी को भी हजारों मोहर समझकर उठा लेता है और अवसर पड़ने पर करोड़ों खर्च करने में भी हाथ खोल देता है, उस राजसिह को लक्ष्मी कभी नहीं त्यागती।' और – 'यज्ञ, विवाह, विपत्ति और शत्रुनाश करने में, कीर्तिदायक कर्म में, मित्रसंग्रह म, प्रिय स्त्री, गरीब तथा अपने बन्धुओं को देने में खर्च किया हुआ धन अपव्यय नहीं कहलाता।' क्योंकि – मूर्ख थोड़े से खर्च के भय से अपना सर्वनाश कर लेता है। ऐसा कौन समझदार मनुष्य होगा, जो राजकर के भय से घबड़ाकर अपने धन से भरे बर्तन को ही त्याग देगा।' "

राजा ने कहा – "तो क्या इस समय अधिक खर्च करना ठीक होगा? कहा भी है – **आपदर्थे धनं रक्षेत्** – 'आपत्ति से बचने के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए।' "

मंत्री बोला – "श्रीमान् के पास विपत्ति आएगी ही क्यों?"

राजा ने कहा – "अगर धन समाप्त हो जाए तो?"

मंत्री बोला – "बचाते रहने पर भी तो वह नष्ट हो सकता है। इसलिए महाराज! कृपणता त्यागकर दान-मान से अपने वीरों को पुरस्कृत करिए। कहा भी है – 'स्वामी और सेवक परस्पर एक दूसरे को समझनेवाले हों तो सेवक प्रसन्न होकर अपने प्राण भी अर्पण करने को तैयार रहते हैं। उच्च वंश के लोग सत्कार पाकर शत्रु की सेना को पराजित कर देते हैं।' और – 'वीर, शीलवान, संगठित और अपने निश्चय पर दृढ़ पाँच सौ योद्धा भी शत्रु की पूरी सेना को नष्ट कर सकते हैं।' और – अयोग्य, क्रोधी, कृतघ्न और पेटू लोगों को सज्जन लोग भी छोड़ देते हैं, तब औरों की कौन कहे।' क्योंकि – सच्चाई, बहादुरी, दया और त्याग – ये राजा के महान् गुण हैं। इनसे हीन राजा संसार में निन्दित होता है।

ऐसी समस्या आते ही मंत्रियों का सत्कार करना चाहिए। कहा भी है – 'जिस व्यक्ति का जिस राजा के साथ सम्बन्ध हो, उसका उसी के साथ लाभ-हानि भी होता है और ऐसे विश्वास्त लोगों को ही प्राण व धन की रक्षा के काम में लगाए।' क्योंकि 'जिस राजा के मंत्री धूर्त, स्त्री या बालक होते हैं, वह अनीतिरूपी वायु के झोंके से उड़कर कार्यरूपी समुद्र में डूब जाता है।' सुनिए महाराज! – जिस राजा को हर्ष और शोक समान होते हैं, जिसकी शास्त्र-वाक्यों पर आस्था होती है और जो अपने सेवकों की उपेक्षा नहीं करता, उसकी भूमि धनप्रसू होती है।' और 'राजा की उन्नति या अवनति से मंत्रियों की भी उन्नति या अवनति होती है। अतः राजा का कर्तव्य है कि वह अपने मंत्रियों का कभी अपमान न करे। मदान्ध और संकुचित हृदय वाला राजा मतवाले हाथी के समान जब भटकने लगता है, तब सहृदय मंत्री उसे हाथ का सहारा देकर बचा लेता है।' "

इसी बीच मेघवर्ण (चित्रवर्ण का कपटदूत, जिसे चकवे के मना करने पर भी राजहंस ने आश्रय दिया था) ने आकर कहा – "महाराज! दयादृष्टि करिए। अब शत्रु किले के फाटक पर आ गया है। सो यदि आप अनुमति दें तो मैं बाहर निकलकर अपना पराक्रम दिखाऊँ और आपके ऋण का बोझ उतारूँ।"

चकवा बोला – "ऐसा मत करो। यदि बाहर निकलकर ही युद्ध करना था, तो किले में आश्रय लेने की क्या जरूरत थी। और – 'घड़ियाल इतना भयानक होता हुआ भी पानी से बाहर निकलकर लाचार हो जाता है और इतना पराक्रमी सिंह भी वन से निकलकर सियार जैसा असहाय हो जाता है।' महाराज! आप स्वयं जाकर इस महान् युद्ध को देखिए। क्योंकि – 'राजा को चाहिए कि सेना को आगे करके सैनिकों की देखभाल करता हुआ उनसे युद्ध कराये। स्वामी के साथ रहने पर कुत्ता भी सिंह के समान बहादुर हो जाता है।' "

इसके बाद उन सबने किले के द्वार पर जाकर घमासान युद्ध किया। दूसरे दिन राजा चित्रवर्ण ने महामंत्री गिद्ध से कहा – तात! अब आप अपनी प्रतिज्ञा को निभाइए।'

गिद्ध बोला – "सुनिए महाराज! – 'अधिक दिनों तक घेरे को न सह पाना, थोड़ी सेना रहना, सेनापति का मूर्ख तथा व्यसनी होना, किले की रक्षा का उचित प्रबन्ध न होना और सेना में डरपोक सैनिकों का रहना, ये दुर्ग के दोष कहे गए

हैं।' इस किले में ऐसी बात नहीं है। किला को जीतने के चार उपाय कहे गए हैं – 'किले के भीतरवाले सैनिकों में फूट डाल देना, बहुत दिनों तक घेरा डाले रहना, अचानक आक्रमण कर देना और कठोर पौरुष से काम लेना।' इस विषय में यथाशक्ति प्रयास कर रहा हूँ। (कान में कहता है) इस इस प्रकार से।''

दूसरे दिन सूर्य उगने के पूर्व ही किले के चारों फाटकों पर युद्ध होने लगा। उसी समय (कपटदूत) कौए ने दुर्ग के भीतरी हिस्सों में आग लगा दी। इसके बाद 'किला ले लिया, ले लिया' यह कोलाहल होने लगा, जिसे सुन और चारों ओर से उठती आग की लपट देखकर राजहंस के सब सैनिक और किले के निवासी सारे पक्षी तालाब में कूद गए। क्योंकि –

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम्।
कार्यकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत्।।

– 'समय आ जाने पर अच्छी सलाह, अच्छा पौरुष, अच्छे युद्ध और ठीक ढंग से भागना आदि जो भी उचित लगे, उसे ज्यादा सोच-विचार किये बिना तत्काल कर डालना चाहिए।'

स्वभाव से ही धीरे धीरे चलनेवाला राजहंस सेनापति सारस के साथ जाते समय चित्रवर्ण के सेनापति मुर्गे द्वारा घेर लिया गया। हिरण्यगर्भ ने सारस से कहा – "सेनापति! मेरी प्रतीक्षा में तुम क्यों अपनी जान दोगे! तुम अभी भी निकलकर भाग सकते हो। अतः जल में कूदकर अपनी रक्षा कर लो। सर्वज्ञ से सलाह करके मेरे पुत्र चूड़ामणि को राजा बना देना।" सारस बोला – "ऐसी कठोर बातें न करें महाराज! जब तक आकाश में सूर्य और चन्द्रमा विराजमान रहें, तब तक आप विजयी रहें। महाराज! मैं दुर्ग का अधिकारी हूँ। अतः मेरे रक्त-मांस से सने हुए द्वार से ही शत्रु किले में प्रविष्ट हो सकेगा। और फिर – 'दाता, क्षमाशील और गुणग्राही स्वामी मुश्किल से मिलता है।' "

दाता क्षमी गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते।
शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः।

राजा बोला – "यह सब सच है। लेकिन मैं तो समझता हूँ – 'स्वच्छहृदय, कार्यकुशल और स्वामीभक्त सेवक भी कठिनाई से मिलता है।' "

सारस बोला – "सुनिए स्वामी! 'यदि यह निश्चित हो कि युद्धभूमि से भागकर मैं कभी मरूँगा ही नहीं, तब तो यहाँ से कहीं भाग जाना उचित है। लेकिन जब प्राणी का मरण निश्चित ही है, तब व्यर्थ अपने यश को मलिन क्यों करें?' और –

भवेस्मिन् पवनोद्भ्रान्त-वीचि-विभ्रम-भङ्गुरे।
जायते पुण्ययोगेन पराऽर्थे जीवितव्ययः।।

– 'वायु के झोंकों से उठनेवाली चंचल तरंगों की भाँति क्षण भर में ही नाश हो जानेवाले इस संसार में बड़े भाग्य से ही दुसरों की हित में प्राणत्याग का अवसर मिलता है।' – 'राजा, मंत्री, दुर्ग, खजाना, सेना, सगे-सम्बन्धी और नागरिकों का समुदाय, ये राज्य के प्रधान अंग हैं।' महाराज! आप हमारे स्वामी हैं। अतः सब तरह से आपकी रक्षा होनी चाहिए। क्योंकि – 'राजा से रहित प्रजा चाहे कितनी ही समृद्ध क्यों न हो, फिर भी जीवित नहीं रह सकती। जैसे कि किसी की मृत्यु आ गयी हो, तो धन्वन्तरी वैद्य भी क्या कर सकते हैं।' और – 'राजा के अस्त हो जाने पर यह संसार ही अस्त हो जाता है और राजा का अभ्युदय होने से जगत् का भी वैसे ही अभ्युदय होता है, जैसे कि सूर्य के उदय से कमल खिल जाते हैं।' "

तभी मुर्गे ने आकर राजहंस के शरीर पर अपने तीक्ष्ण नखों से प्रहार किया। सारस ने तत्काल आगे बढ़कर राजा को अपने पंखों से ढँककर तालाब में फेंक दिया। इसके बाद मुर्गों की सेना सारस पर अपने नखों के प्रहार करने लगी। अपनी इस घायल अवस्था में भी सारस ने बहुत-से मुर्गों को मार गिराया। इसके बाद मुर्गों के चोचों के प्रहार से सारस स्वयं भी घायल होकर मर गया। इसके बाद चित्रवर्ण मोर किले में गया और वहाँ का सारा धन लदवाकर चारणों की जयजयकार से आनन्दित होता हुआ अपने शिविर को चला गया।

अब राजकुमारों ने विष्णु शर्मा से कहा – "उस राजा की सेना में वह सारस ही पुण्यवान था, जिसने अपने प्राण देकर भी स्वामी की रक्षा की। कहा भी है – 'गायें वैसे तो बैल की आकृतिवाले बहुत से बछड़ों को जन्म देती हैं, किन्तु बिरली ही कोई गाय ऐसे साँड़ को उत्पन्न करती है, जिसके कन्धे सींगों की मार के घाव से भरे होते हैं।' "

विष्णु शर्मा बोले – "वह महा-पराक्रमी परियों से सेवित होता हुआ स्वर्ग का सुख भोगे। कहा भी है –

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः।
भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः।।

– 'जो वीर युद्ध में अपने स्वामी के लिए लड़ते हुए प्राण देते हैं, वे स्वामीभक्त तथा कृतज्ञ लोग स्वर्गलोक में जाते हैं।'

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि क्लैब्यं न गच्छति।।

– 'शत्रु से घिरा हुआ वीर यदि कायरता न दिखाए, तो वह चाहे जहाँ भी मारा जाय, वह अक्षय – ब्रह्मलोक आदि को प्राप्त करता है।' "

विष्णु शर्मा बोले – "आप लोगों ने विग्रह सुन लिया।"

राजपुत्रों ने कहा – "सुनकर हम लोग सुखी हुए"

विष्णु शर्मा ने कहा – और भी इतना हो – 'आप जैसे राजाओं का हाथी, घोड़े तथा पैदल सैनिकों के साथ कभी युद्ध न हो। आप लोगों की नीतिरूपी वायु के झोकों से उड़ाए हुए शत्रु पर्वतों की कन्दराओं में आश्रय लें।'

❖ (क्रमशः) ❖

धर्म-निरपेक्षता का ऐतिहासिक स्वरूप

स्वामी आत्मानन्द

हमारे देश में धर्म-निरपेक्षता उतनी ही पुरानी है, जितना कि धर्म। हमारे यहाँ धर्म की व्याख्या मनुष्य-इकाइयों को जोड़नेवाले सूत्र के रूप में की गयी है। 'महाभारत', जो प्राच्यविदों द्वारा लगभग ३००० वर्ष पूर्व का माना जाता है, धर्म की बड़ी ही व्यापक व्याख्या करता है। वहाँ 'शान्ति-पर्व' में युधिष्ठिर का भीष्म पितामह से वार्तालाप दिखलाया गया है, जहाँ अनेक अन्य प्रश्नों के साथ युधिष्ठिर एक प्रश्न यह भी करते हैं – "पितामह, धर्म क्या है?" और इसके उत्तर में पितामह कहते हैं –

प्रभवार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्म-प्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसा सम्पृक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

– अर्थात् 'प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का निश्चय है। धर्म का नाम धर्म इसलिए पड़ा है कि वह सबको धारण करता है – अधोगति में जाने से बचाता और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है। प्राणियों की हिंसा न हो, इसके लिए धर्म का उपदेश किया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है।'

धर्म की व्याख्या वस्तुतः धर्म-निरपेक्षता का स्वरूप ही हमारे सामने रखती है। धर्म-निरपेक्षता का तात्पर्य धर्म-विहीनता नहीं है, जैसा कि हम अच्छी तरह जानते हैं। जब से हमारा राष्ट्र स्वाधीन हुआ, हमने संविधान में उसके धर्म-निरपेक्ष रहने की घोषणा की। हमारे संविधान की धारा १५ की कण्डिका १ कहती है – "राज्य केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान या इनमें से किसी एक के आधार पर किसी नागरिक से भेद नहीं करेगा।" इसका मतलब साफ है। १९४८-४९ में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग गठित हुआ था। उसने अपने प्रतिवेदन में लिखा – "To be secular is not to be religiously illiterate, it is to be deeply spiritual and not narrowly religious." – अर्थात् "धर्मनिरपेक्ष होने का यह अर्थ नहीं कि व्यक्ति धार्मिक दृष्टि से अनपढ़ रहे। उसका तात्पर्य है – गहरे रूप से आध्यात्मिक होना, न कि संकीर्ण रूप से धार्मिक बनना।"

हमारी भारतीय सस्कृति की यह विशेषता है कि उसने धर्म के क्षेत्र में उदारता का पाठ पढ़ाया है। जिसे विश्व ने हिन्दू धर्म के नाम से जाना है, उसने धर्म-निरपेक्षता की सही व्याख्या संसार के समक्ष रखी है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में कहा है – 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' – 'सत्य एक है, ज्ञानीजन उसी को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं।' धर्म-निरपेक्षता का भाव ऐसी ही उदारता के आधार पर खड़ा होता है।

सम्राट् अशोक के शिलालेख, जो आज से २३०० वर्ष पूर्व के हैं, यह घोषणा करते नहीं थकते कि "जो व्यक्ति अपने पन्थ के प्रति आदर व्यक्त करते हुए, यह सोचकर दूसरे ग्रन्थों की निन्दा करता है कि इससे उसके अपने पन्थ का गौरव बढ़ेगा, वह वास्तव में ऐसे कृत्य से अपने ही पन्थ पर सबसे कड़ी चोट पहुँचाता है।" धर्म-निरपेक्षता का इससे बढ़कर दृष्टान्त कहाँ मिलेगा?

हमारे देश में धर्म के नाम पर कभी रक्तपात नहीं हुआ। **इतिहास बताता है कि हमने अपने मत को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए शास्त्रार्थ तो किये, पर शस्त्रार्थ कभी नहीं।** धर्म के नाम पर खूनखराबी भारत को मुगल आक्रान्ताओं की देन है। यदि इस्लाम हमारे देश में एक मित्र के नाते, शान्ति की घोषणा करता हुआ आता, तब उसने अपने सामाजिक समानता के सन्देश द्वारा हिन्दू सामाजिक सरचना को एक स्वस्थ दिशा प्रदान की होती। हिन्दू धर्म ने उससे हर्षपूर्वक यह पाठ पढ़ा होता और बदले में उसे सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया होता। पर दुर्भाग्य यह था कि भारत में इस्लाम सन्तों के द्वारा नहीं लाया गया – वह लाया गया उन युद्धलोलुप आक्रमणकारियों द्वारा, जो अपने को इस्लाम का अनुयायी तो कहते थे, पर व्यवहार में अपनी राष्ट्रीय बर्बरता का ही प्रदर्शन करते थे, जिन्होंने भारत को रौंद डाला तथा जो हिन्दू धर्म और संस्कृति को क्षत-विक्षत करने के ही प्रयत्न करते रहे। धर्म के नाम पर ऐसी बर्बरता को देख हिन्दू क्षुब्ध और चकित था।

उसने धर्म के नाम पर रक्तपात नहीं देखा था। अमृतसर के स्वर्ण-मन्दिर की भित्तिशिला रखने के लिए एक मुस्लिम सन्त को बुलाया गया – यह तो इतिहास की कहानी है। मुगलों के इन आक्रमणों से हिन्दुओं की रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम सगठित प्रयास गुरु गोविन्द सिंह ने किया, जिन्होंने 'खालसा' पन्थ का निर्माण किया। 'खालसा' शब्द 'खालिस' का ही रूप है, जिसका अर्थ होता है शुद्ध। इस प्रकार खालसा शुद्ध हिन्दू का पर्याय था, जो हिन्दुओं की रक्षार्थ समय की आवश्यकता को देखते हुए सामने आया। और आज यह कैसी विडम्बना है कि कुछ लोग अपने को 'खालसा' कहते हुए, खालिस्तान की माँग कर, देश के टुकड़े करने में तथा धर्म के नाम पर रक्तपात करने और कराने में नहीं हिचक रहे हैं। ऐसे लोगों के द्वारा देश का धार्मिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और धर्म-निरपेक्षता की भावना, जो जन्म और स्वभाव से ही भारत के अधिसंख्य हिन्दुओं के रक्त में विद्यमान है, दबने लगती है। इसके जो भयकर दुष्परिणाम होते हैं, वह किसी की आँखों से छिपे नहीं हैं।

धर्म-निरपेक्षता का एक और बाधक तत्त्व है – और वह है धर्मान्तरण। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म से प्राप्त धर्म में अपनी परिपूर्णता न होती देख कोई दूसरा धर्म अपना लेता हो, जिसमें उसे आध्यात्मिक सन्तुष्टि का अनुभव होता हो, तो ऐसे धर्मान्तरण में दोष नहीं है। पर जहाँ पर प्रलोभन और भय के द्वारा लोगों के समूह को धर्म बदलने के लिये बाध्य किया जाता हो, ऐसा धर्मान्तरण राष्ट्र की सुरक्षा के लिए खतरा बन सकता है – विशेषकर तब, जब धर्मान्तरण के माध्यम से लोगों को राष्ट्र की जड़ से अलग काटने का उपक्रम किया जाता हो। यह दुर्भाग्य की बात है कि विदेशों से यहाँ आयी मिशनरियाँ ऐसा ही गर्हित कार्य कर रही हैं। रचनात्मक कार्य तो प्रशसा के योग्य होते हैं, पर ऐसे कार्यो के मुखौटे के पीछे यदि राष्ट्र-विरोधी दुरभिसन्धि हो, तो ये कार्य तब प्रशसा नहीं, तिरस्कार के योग्य बन जाते हैं। ऐसे कार्यो की तुलना उस दूध से की जा सकती है, जिसमें विष की बूँद मिली हो। विष-मिश्रित दुग्ध जीवन देगा या मृत्यु – यह थोड़ी भी बुद्धि रखनेवाला व्यक्ति समझ ले सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म-निरपेक्ष भारत-राष्ट्र के सच्चे नागरिक होने के लिए भारतीय मुसलमानों को अपनी सकीर्ण दृष्टि का त्याग करना होगा और हिन्दू धर्म से परधर्म-सहिष्णुता का पाठ सीखना होगा। तभी वे सही अर्थों में भारतीय होंगे। हिन्दू भी इस्लाम से सामाजिक समानता का पाठ सीखेगा और अपने ऊपर लगे छुआछूत एव जाति-भेद-वैषम्य आदि के कलक को दूर करेगा। एक भारतीय ईसाई अपनी भारतीयता और पूर्वजों से मिली धार्मिक उदारता की विरासत का गौरव करेगा – वह विदेशी मिशनरियों का विरोध करेगा और उनकी राजनैतिक दुरभिसन्धियों का पर्दाफाश करेगा तथा उनको विफल करने का प्रयास करेगा।

यदि हमें अपनी धर्म-निरपेक्षता की जड़ों को सुरक्षित रखना है, तो यह 'साधन-चतुष्टय' अवश्यमेव करणीय होगा –

पहला – हम धर्म के क्षेत्र में 'बहुसख्यक' और 'अल्पसख्यक' कहना छोड़ दें। धर्म मनुष्य की व्यक्तिगत आवश्यकता है। उसके माननेवाले की सख्या को महत्त्व देना राष्ट्रहित में नहीं है। धर्म पर आधारित आरक्षण राष्ट्र-विरोधी गिना जाय। धर्म के नाम पर कोई विशेष माँग न स्वीकार की जाय या काई विशेष सुविधा न मुहैया की जाय।

दूसरा – धर्म को राजनीतिक दुरभिसन्धियों का साथी न बनाया जाय। पूजा के स्थानों को राजनीति का गढ़ न बनने दिया जाय।

तीसरा – प्रलोभन और भय के द्वारा तथा राजनीतिक दुरभिसन्धि से प्रेरित धर्मान्तरण पर अविलम्ब रोक लगायी जाय।

और चौथा – धर्म अथवा जाति के नाम पर अलग कानून भारत-राष्ट्र की जड़ों को मजबूत नहीं होने देगा। इसलिए हमारे संविधान की धारा १५ की कण्डिका १ में जो घोषित हुआ है, उसका ईमानदारी से पालन करते हुए भारत के हर नागरिक के लिए समान कानून की व्यवस्था की जाय।

केवल इसी प्रकार हमारी धर्म-निरपेक्षता का ऐतिहासिक स्वरूप कायम रह सकता है, अन्यथा नहीं।

(आकाशवाणी, रायपुर से १७.१२.१९८४ को प्रसारित)

मानवता की झाँकी (५)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

दीवानजी ने झाड़ू लगाया

गुजरात प्रान्त में सच्चीन एक छोटा सा राज्य है, सुन्दर जगह है, चारों ओर हरे-भरे दृश्य, शान्त और आकर्षक है। परिव्राजक संन्यासी भ्रमण करता हुआ सूरत गया था। वहाँ तबीयत कुछ बिगड़ गयी। एक शिवमन्दिर में विचारमग्न बैठा था, तभी वहाँ एक सौम्यमूर्ति गौड़ ब्राह्मण आ गये। शिवपूजन के बाद पास आकर संन्यासी को नमस्कार किया और कुशल पूछी, मानो कोई पूर्वपरिचित रहे हों। संन्यासी को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे कोई परम आत्मीय हैं। फिर बातचीत, सत्संग होता रहा। भिक्षा का समय हुआ देखकर ब्राह्मण ने पूछा, "भिक्षा का क्या प्रबन्ध है?" जब सुना कि कुछ नहीं, आकाश-वृत्ति है, तो तुरन्त बाजार जाकर कुछ गाँठिया, भुजिया, मिठाई आदि ले आया। संन्यासी के आहार ग्रहण करते समय ब्राह्मण अपने गाँव सच्चीन जाने और कुछ दिन वहाँ ठहरकर तबीयत सुधारने के वास्ते निवेदन करने लगा –

"सच्चीन पास ही है, स्वास्थ्यकर जगह है, चलिए। आपकी तबीयत सुधर जाएगी और हमें कुछ सत्संग मिलेगा, उसके बाद आपकी जहाँ इच्छा, जाइयेगा। मेरी एक बहन है, दिन-रात पूजा-पाठ लेकर ही रहती है, आपकी सेवा करेगी, उपदेश से उसे लाभ मिलेगा। बहुत प्रश्न पूछती है, पर मुझे तो खास कुछ आता नहीं है और वहाँ किसी सन्त-महात्मा का आश्रम भी नहीं है, जहाँ हम जाकर आध्यात्मिक ज्ञान या आत्मा की शान्ति प्राप्त कर सकें। चलिए ५-१० दिन के लिए, जितने दिन जी चाहे ठहरिए, हमारा मकान शहर से बाहर है, आश्रम जैसा ही है, आपको खूब पसन्द आएगा।"

संन्यासी राजी हुआ और तत्काल साथ चल पड़ा। उसने बड़े प्रेम से कम्बल और कमण्डलु उठा लिया।

गाड़ी आते ही दोनों टिकट ले बैठ गये और विभिन्न चर्चाओं में निमग्न हो गए। रेलगाड़ी लगभग शाम को सच्चीन पहुँची। घर में पहुँचे तो घर के सभी लोग बहुत खुश हुए और सामने के अच्छे कमरे में ठहरने की व्यवस्था कर दी। सारा घर सात्विकता से परिपूर्ण प्रतीत हुआ, संन्यासी को वह ऋषियों के आश्रमगृह जैसा लगा। खूब प्रसन्नता हुई।

रात में बड़ी देर तक सत्संग चला, ब्राह्मण तथा संन्यासी दोनों उसी कमरे में सोये। संन्यासी ने कहा, "मुझे सुबह जल्दी उठने की आदत है, इसलिए एक बाल्टी और रस्सी रख दो, कुँए से पानी खींच लूँगा, ताकि सुबह माँगना न पड़े।" ब्राह्मण ने हँसकर पूछा, "सुबह कितने बजे चाहिए? बहन जी नित्य ३-४ बजे उठ जाती है, स्नान करके फिर पूजा में बैठती हैं, आपको पानी तैयार मिलेगा, खींचना न होगा।"

बहन ने सुबह उठकर पानी भर रखा था। जब संन्यासी प्रात:कृत्य कर लौटे, तो सब तैयार मिला।

संन्यासी चाय पीकर नजदीक सड़क पर थोड़ा टहलने के लिए निकला, ताकि गृहस्थ सुगमता से सुबह का कर्तव्य कर सकें! रास्ता सुन्दर था, पर दोनों ओर दूर तक एक प्रकार के बबूल के वृक्ष लगे हुए थे। छोटे छोटे काँटे और बबूल के पीले फूल रास्ते पर बिछे हुए मिले। नंगे-पैर चलना काफी कठिन था। देखा तो दूर गाँव से शाक-सब्जीवाले, दूधवाले गरीब स्त्री-पुरुष अपनी मजदूरी करने चले आ रहे हैं। जिनके पैर में जूते नहीं हैं, वे तो काँटों पर से बड़ी मुश्किल से पार हो पाते थे। काँटे चुभते जाते थे और वे निकलते जाते थे। और क्या करते! संन्यासी को बड़ा दु:ख हुआ। आम सड़क की बगल में बबूल या कोई अन्य काँटेदार पेड़ नहीं लगाया जाना चाहिए और इन कँटीले पेड़ों को तो विशेष रूप से छाया तथा शोभा के लिए लगाया गया था। कैसी बुद्धि!

पास में ही एक छोटा-सा खजूर का पेड़ दिखा। उसी का एक पत्ता काट झाड़ू जैसा बना लिया और रास्ते के बीच का भाग साफ करने लगा। जिसने भी देखा, हँसता हुआ चल दिया, पर संन्यासी बड़े कष्टपूर्वक काँटे हटाने में लगा रहा। दोनों ओर कुल मिलाकर कोई दो सौ बबूल के कँटीले पेड़ थे। इतने में एक प्रौढ़ गुजराती व्यक्ति उधर आ पहुँचा। बोला

– "क्या कर रहे हो, महाराज?"

– "कुछ नहीं, ये काँटे लोगों को बहुत परेशान करते हैं, जरा हटा रहा हूँ।"

– "पर वृक्ष न काटे जाएँ, तो ऐसा ही तो होता रहेगा!"

– "लगानेवालों ने बुद्धिपूर्वक रास्ते के किनारे कँटीले वृक्ष लगा दिए हैं। यह शायद उनके ख्याल में नहीं कि हजारों ऐसे गरीब हैं, जो जूते नहीं पहन सकते। नवाब साहब का ध्यान इधर खींचना जरूरी है। कम-से-कम एक वक्त सुबह के समय झाड़ूदार आकर इतनी जगह साफ कर जायँ, बीच का भाग करने से ही हो जायगा, लोगों का कष्ट दूर हो जाएगा।"

– "हाँ, यह तो हो सकता है, इसमें कोई बड़ी बात नहीं है, महाराज, झाड़ू जरा मुझे दीजिए, थोड़ा मैं भी लगा दूँ।"

संन्यासी के हाथ से उन्होंने खजूर का झाड़ू ले लिया और

कुछ दूर तक झाड़ू से काँटे साफ करते रहे।

परन्तु अब लोग यह देखकर हँसे नहीं, सम्मानपूर्वक मुँह में उँगली डालकर चुपचाप चले जाने लगे। पर किसी ने ऐसा भी नहीं कहा कि हमें दीजिए, वे सब काम पर जा रहे थे या उनका बाजार में समय पर पहुँचना जरूरी था।

संन्यासी ने समझा कि ये भाई कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। उपरोक्त कार्य समाप्त होने पर उन महाशय ने कहा, "आप कहाँ ठहरे हैं, कब आए?" आदि। जब सुना कि पिछली रात ही आकर गौड़ ब्राह्मण के घर ठहरे है, तो खुश होकर कहा, "गौड़ अच्छा आदमी है, बड़ा धार्मिक है। अच्छा मेरे निवास-स्थान पर चलिए न, पास ही है ५-७ मिनट का रास्ता है।"

संन्यासी साथ चला। कई तरह की बातें करते हुए पहुँचे, देखा कि पट्टेवाला चोबदार सलाम बजा खड़ा हो गया, एक बोर्ड बाहर लटका हुआ था – "दीवान साहब, सच्चीन स्टेट"।

संन्यासी को सादर बैठाकर चाय मँगवाई और बोले – "महाराज, आज आपसे जीवन का एक अच्छी सीख मिली। मैं प्रतिदिन घूमने के लिए उधर ही जाता हूँ, परन्तु यह बात कभी ख्याल में भी नहीं आई थी। देखकर भी देखा नहीं था। इसीलिए सन्त-समागम चाहिए। आज मुझे हर्ष हो रहा है कि मैं भी अपने हाथों से कुछ सेवा कर सका। और ऐसी सेवा, जो हम कभी कल्पना में भी नहीं करते।"

सामने ही कचहरी थी, उधर से साहबजादे साहब आ पहुँचे, तो दीवान जी ने सब कह सुनाया। – "बात तो सही है, लोगों को तकलीफ तो बहुत होती होगी। तो दोनों समय किसी को भेज दे, हुकुम कर दीजिये।" कहकर संन्यासी को नमस्कार करके चल दिए।

दीवान साहब सत्संगी ब्राह्मण थे। संन्यासी वहाँ ५-६ दिन ठहरा था। वे प्रति दिन सुबह उसी सड़क पर मिलते और सत्संग करते हुए दूर तक चलकर वापस लौट जाते।

जहाँ धार्मिक भावना है – वहाँ मानवता है।

'चाय पीयो'

परिव्राजक संन्यासी उत्तराखण्ड में हिमालय पर्वत पर भ्रमण कर रहा था। पवित्र तीर्थ गंगोत्री में कुछ दिन ठहरकर आत्मिक आनन्द लेकर तबीयत नरम हो जाने से अब बाकी दो धाम श्री केदारनाथ व बद्रीनारायण दर्शन करके नीचे हृषिकेश-हरिद्वार उतरने का विचार कर लिया और उस उद्देश्य से चल पड़ा। ... बीच में उसने त्रियुगी-नारायण तीर्थ होकर श्री केदार जाने का निश्चय कर लिया और एक जानकार पहाड़ी के कहने पर आम रास्ता छोड़ एक निर्जन पगडण्डी से चलने लगा।

परन्तु बीच में इतनी जोर से वर्षा होने लगी कि वह परेशान होकर मुश्किल से एक छोटे-से गाँव के पास पहाड़ी चट्टी में जा पहुँचा, जो पगडण्डी से दूर, पर आम रास्ते के पास थी। वहाँ जाकर देखा तो बहुत-से यात्री ठहरे हुए हैं, जो वर्षा के कारण निकल नहीं पाए थे, एक सज्जन ने अपनी रोकी हुई जगह से 'पग पसार का' मार्ग कर दिया और संन्यासी ने धन्यवाद देकर आश्रय ले लिया। दो दिन उस चट्टी में ही गुजरना पड़ा। तीसरे दिन दोपहर को वर्षा बन्द हो गयी। चारों ओर फैली पहाड़ों की चोटियाँ सफेद चद्दरों से ढँकी हुई सी नजर आती थीं। बर्फ गिरने से वैसा दृश्य हुआ था। वह शोभा अवर्णनीय है, दिव्यता का द्योतक है।

संन्यासी का अब चट्टी पर रुकना मुश्किल था। भिक्षा की व्यवस्था थी नहीं, और अन्य यात्रियों के आने पर स्थानाभाव होने के कारण, यह अपेक्षा भी थी कि जो खाली कर जा सके सो चले जायँ। एक पहाड़ी से पूछकर फिर वही पूर्व की पगडण्डी से त्रियुगीनारायण तीर्थ तरफ जाने के लिए चल पड़ा। पर रास्ते मे कोई न मिलने से और बर्फ के कारण रास्ता भूला और कहीं का कहीं जा पहुँचा। धीरे धीरे वह पगडण्डी पहाड़ की एक चोटी पर ले गयी, जो बर्फ से ढँकी हुई थी। ताजी बर्फ के कारण अन्दाज लग जाता था कि पगडण्डी मार्ग है, पर नरम रूई सदृश बर्फ में पाँव धँस जाने से तथा नंगे-पैर होने के कारण ठण्ड के मारे बोधशून्य हो गया।

किसी तरह से लकड़ी के सहारे यंत्रवत् आगे कदम रखकर चल रहा था। फिर हाथ की उँगलियाँ भी जड़ बन गयीं। कमण्डलु और लाठी पर उँगलियाँ चिपक गयीं। श्वास निकलकर मूँछ पर ही जम जाने लगी, नाक का अग्रभाग सुन्न हो गया और उसके खस जाने का डर हुआ। पर अब उपाय क्या था? किसी तरह से घिसटते हुए चलने लगा। बर्फ मे ही सब ठण्डा हो जाएगा क्या? जीवन का अन्त आ गया क्या? आदि बाते मस्तिष्क में घूमने लगीं। इतने में देखा कि बर्फ कम हो गयी है। नीचे झाड़ी दिख रही है और उस झाड़ी के पास एक तम्बू में एक तिब्बती कुटुम्ब भेड़-बकरी लेकर ठहरा है और आग जलाकर ताप रहा है। जय भगवान! गिरते-घिसटते नीचे उतरने लगा और तम्बू के पास पहुँच गया।

तिब्बती भाई ने तो देखते ही जान लिया कि स्थिति गम्भीर है – संन्यासी ठण्ड और बर्फ से त्रस्त है। उसने तत्काल अग्नि में ईंधन डाला और संन्यासी को आमंत्रण दिया। संन्यासी इस आमंत्रण से बहुत प्रसन्न हुआ और पास बैठकर सेकने लगा। कुछ देर तक तो वह बोल ही नहीं सका। गरम-गरम चाय सामने रखकर तिब्बती दम्पति बड़े प्रेम से कहने लगे, "चा तुम्, चा तुम्" (चाय पीओ) और इशारे से कहने लगे – "शरीर गरम हो जाएगा, चेतना आयेगी।" चार-पाँच कप चाय पीने के बाद कुछ ठीक प्रतीत होने लगा और अग्निदेव तो दैहिक ताप को बढ़ा संजीवनी शक्ति दे ही रहे थे।

इस आमंत्रण व "चा तुम्" में थी मानवता की झाँकी!

(विवेक-ज्योति के प्रारम्भिक वर्षो में प्रकाशित पाठको के प्रश्न तथा तत्कालीन सम्पादक ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी के उत्तर। – सं.)

आध्यात्मिक-प्रश्नोत्तरी

८१. प्रश्न – मैं ध्यान के लिए बैठता हूँ, तो अधिक देर तक एक ही आसन में नहीं बैठ पाता। थोड़ी ही देर में शरीर चंचल होने लगता है। क्या लेटकर ध्यान किया जा सकता है? शरीर की चंचलता दूर कैसे की जा सकती है?

उत्तर – यदि आप साधना में निष्ठा रखते हैं, तो लेटकर ध्यान करने की बात छोड़ दीजिए। ध्यान का अभ्यास बैठकर ही किया जाना चाहिए। इस प्रकार बैठना चाहिए कि रीढ़ की हड्डी, गला और सिर एक सीध में रहें। न तो हम अधिक अकड़कर बैठें, और न पीठ झुकाकर। सहज रूप से सीधे बैठें। यदि हम कुछ समय तक एक ही आसन में बैठे रहने का अभ्यास करें, तो धीरे धीरे आसन सधने लगता है। कुछ प्रारम्भिक प्राणायाम का अभ्यास हमें आसन को सिद्ध करने में सहायक होता है। हम नाक से जोरों से साँस खींचे और मुँह से निकाल दें। थोड़ी देर तक ऐसा करने से शरीर की चंचलता अपने-आप कम होने लगती है।

८२. प्रश्न – क्या आध्यात्मिक जीवन में प्रगति लाने के लिए ब्रह्मचर्य धारण करना आवश्यक है?

उत्तर – हाँ, क्योंकि ब्रह्मचर्य ही आध्यात्मिक जीवन का आधार है। ब्रह्मचर्य-धारण का अर्थ है वीर्य-रक्षा। वीर्य रक्षित होने से सुपुष्ट होता है, 'ओजस्' में परिणत होता है। शरीर में 'ओजस्' जितना बढ़ेगा, स्नायुओं की अनुभव-क्षमता उतनी ही बढ़ेगी। आध्यात्मिक अनुभूतियाँ सूक्ष्म और तीव्र होती हैं। सामान्य दशा में हमारे स्नायु इन अनुभूतियों की तीव्रता को सह नही सकते। ब्रह्मचर्य इन स्नायुओं की क्षमता को बढ़ाकर अनुभूतियों के वेग को सहने की शक्ति देता है। यदि मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन न करे और सहसा आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधना शुरू कर दे, तो उसके शरीर और मन में विकार पैदा होने की बड़ी सम्भावना बनी रहती है। कई लोग अपने मस्तिष्क का सन्तुलन खो बैठते हैं। वैवाहिक जीवन में यदि उचित संयम बरता जाय, तो वह भी ब्रह्मचर्य का पालन ही कहलाएगा। पर जिसे हम अपरोक्ष आध्यात्मिक जीवन कहते हैं, जिसमें कुण्डलिनी-शक्ति को जगाने की साधना करते हैं, वहाँ तो कड़ाई से ब्रह्मचर्य का पालन अनिवार्य है। वहाँ किसी तरह के समझौते की गुंजाइश नहीं।

८३. प्रश्न – बुद्धि और हृदय के झगड़े में किसका अनुसरण करें?

उत्तर – इसका दो टूक उत्तर नहीं दिया जा सकता। इस झगड़े के फैसले में महत्त्वपूर्ण मुद्दा यह है कि किस बात पर दोनों में झगड़ा हुआ है। एक स्थूल कसौटी यह बनायी जा सकती है कि जिसके पक्ष में स्वार्थ की मात्रा कम हो, उसका अनुसरण करना चाहिए। बहुधा हृदय नि:स्वार्थता का प्रतीक है और बुद्धि स्वार्थपरता का! तथापि जिस बात को लेकर झगड़ा पैदा हुआ हो, उसके सन्दर्भ में यह जाँचकर देखना चाहिए कि हृदय का पक्ष अधिक नि:स्वार्थ है या बुद्धि का। जो पक्ष नि:स्वार्थता का पोषण करता हो, उसी का अनुसरण करना उचित होगा।

८४. प्रश्न – यदि ईश्वर अत्यन्त दयालु और भक्तवत्सल हैं, तो उन्होंने ऐसी सृष्टि की रचना क्यों की, जहाँ हर एक जीव कुछ-न-कुछ क्लेश से पीड़ित और दुखी है? वे ऐसी भी सृष्टि की रचना कर सकते थे, जहाँ सभी सदाचारी और सुखी हों।

उत्तर – अच्छा, हम ऐसी सृष्टि की कल्पना करें, जहाँ सभी सदाचारी और सुखी हैं। ऐसी सृष्टि क्या टिक सकती है? जहाँ वैचित्र्य नहीं, वहाँ नीरसता रहती है और नीरसता में प्राणों का स्पन्दन भी थम जाता है। यदि सभी सुखी हुए, तो कर्म-प्रेरणा भी नहीं रहेगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वहाँ एक प्रकार की जड़ता, शून्यता रहेगी। यदि सभी मनुष्यों के विचार एक समान हों, तो वहाँ क्या जीवन रह सकता है? मनुष्य की हर क्रिया के पीछे अभाव की प्रेरणा होती है। यदि मनुष्य पूर्ण हो, तो वह कर्म करे ही क्यों? कुछ चाह हो, कुछ माँग हो, तभी वह क्रिया करता है। अत: यदि भगवान की सृष्टि में सभी सदाचारी और सुखी हों, तो उनकी दयालुता का कोई अर्थ नहीं, उसकी भक्तवत्सलता भी किसी काम को नहीं। गतिशीलता ही जीवन का लक्षण है और यह गतिशीलता विविधता से उत्पन्न होती है। ऐसी सृष्टि की कल्पना जहाँ सभी सदाचारी और सुखी हैं, एक मनहूसियत की कल्पना है। ईश्वर ऐसा मनहूस नहीं है। इसीलिए उसने इस वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि को उपजाकर उसमें कर्मस्फूर्ति भर दी। इस कर्मस्फूर्ति से ही जीव कर्म करते हैं और सुख एवं दु:ख का अनुभव करते हैं। यदि जीवन में दु:ख न हों, तो सुख की कल्पना भी नहीं बन सकती। जीव जब क्लेश से पीड़ित होता है, तभी उसे अपनी

असहायता का अनुभव होता है और वह ऐसे किसी सामर्थ्यवान की कल्पना करता है, जो उसे इस पीड़ा से बचा ले। ईशन – शासन – करनेवाले ईश्वर की कल्पना जीव के मन में इसी प्रकार रूप लेती है। वह उसे दयालु और करुणामय के विशेषण लगाता है और धीरे धीरे ऐसा अनुभव करता है कि उसकी दया और करुणा प्राप्त करने के लिए उसके बनाये सब जीवों के प्रति समता का व्यवहार करना चाहिए। यही **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** – सर्वभूतों के प्रति आत्मवत् व्यवहार करने की अवस्था है। यही सदाचार है। अपने ही स्वार्थ के लिए आचरण करना सदाचार नहीं। दूसरों की पीड़ा से पीड़ित होना और उसे दूर करने का यत्न करना सदाचार है। तभी उसके मन में ऐसा तर्क जागता है कि यदि हम दूसरे के दुख में दुखी होकर उसके दुख का लाघव करने गए, तो वह ईश्वर भी हमारी ओर अपनी कृपापूर्ण दृष्टि फेरेगा। इससे सेवा की भावना उपजती है।

वस्तुतः ईश्वर जीवों को दुखी नहीं बनाता। उसने संसार में सुख और दुख ये दो तत्त्व बना दिये। जीव अपने कर्म से सुखी या दुखी होता है। दुख का निर्माण जरूरी था, क्योंकि उसके बिना न तो सुख का कोई अर्थ होता, न संसार का।

अब यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि ईश्वर ने ऐसा किया ही क्यों, उसने जीव क्यों बनाये, संसार क्यों उपजाया? – तो इसका यह छोड़ कोई उत्तर नहीं कि यह सब उसकी लीला है!

८५. प्रश्न – शक्तिपात का सिद्धान्त क्या है? क्या यह विश्वसनीय है? मेरे एक परिचित हैं, जो अपने गुरु से अपने में शक्तिपात का दावा करते हैं, पर उनके चरित्र को देखने पर धर्म का विरोधाभास मालूम पड़ता है। यह कैसे?

उत्तर – शक्तिपात का सिद्धान्त, संक्षेप में, यह है कि गुरु अपनी आध्यात्मिक शक्ति का संचार शिष्य में कर देता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि गुरु मंत्र प्रदान करते समय शिष्य में अपनी कुछ शक्ति भी संचारित करता है। सिद्धान्तः यह बात ठीक होते हुए भी व्यवहार में इसकी सत्यता का दर्शन विरला ही होता है। दावा करनेवाले लोग तो अनेक होते हैं, पर यथार्थ में जिनका जीवन सुधरा हो, ऐसे लोग अत्यल्प ही होते हैं। इसमें चार प्रकार की जोड़ियाँ गुरु-शिष्य की हो सकती हैं – (१) गुरु अच्छे उच्च साधक हैं और शिष्य भी उत्तम है, (२) गुरु तो अच्छे हैं, पर शिष्य योग्य नहीं है, (३) गुरु पहुँचे हुए नहीं, पर शिष्य अच्छा साधक है, (४) गुरु और शिष्य दोनों ही अत्यन्त साधारण हैं। जो पहली जोड़ी है, उसमें शक्तिपात का सिद्धान्त सही अर्थों में लागू होता है। श्रीरामकृष्ण देव ऐसे ही गुरु थे, जो छूकर, यहाँ तक कि निहारकर, आध्यात्मिक शक्ति का संचार शिष्य मे कर देते थे। इससे गुरु और शिष्य – दोनों धन्यता का अनुभव करते हैं। शिष्य में ग्रहण करने की पात्रता देखकर ही गुरु उसमें शक्ति का संचार करते हैं। दूसरी जोड़ी वह है, जहाँ शिष्य अपात्र है, तथापि गुरु उसमें शक्ति का संचार करते हैं। इससे शक्ति का अपव्यय होता है। शिष्य अपात्र होने के कारण उस शक्ति को धारण नहीं कर पाता और उसका निम्न जीवन इस शक्ति-संचार से उभर आता है। इसके परिणामस्वरूप, वह या तो चारित्रिक दृष्टि से पतित हो जाता है अथवा बुद्धि-विकार से ग्रस्त हो जाता है। अपात्र शिष्य में शक्ति संचारित करने के कारण गुरु की शक्ति का भी ह्रास होता है और कभी कभी इसका अत्यन्त अवांछनीय परिणाम गुरु पर पड़ जाता है। जो तीसरी जोड़ी है, वहाँ शिष्य तो पात्र है, पर गुरु के पास वस्तुतः देने के लिए कुछ नहीं है। ऐसी दशा में शिष्य जिस धन्यता का अनुभव करता है, वह मात्र अपने श्रद्धा-बल के कारण। उसकी श्रद्धा ही उसे ऊपर उठाती है, गुरु तो केवल एक निमित्त होता है। यहाँ शक्तिपात का सिद्धान्त लागू नहीं होता। चौथी जोड़ी में शक्तिपात का मात्र ढोंग होता है। वहाँ आध्यात्मिकता का कोई सम्बन्ध नहीं होता; केवल एक वैयक्तिक धारणा है, जिस पर गुरु-शिष्य दोनों मिलते हैं। आज संसार में चौथी जोड़ी की बहुलता है। और चूँकि असत्य भी सत्य का ही नाम लेकर चलता है, इसलिए शक्तिपात के सिद्धान्त पर आज असत्य और ढोंग की अनेक दुकानें चल रही हैं।

श्रीरामकृष्ण इस सम्बन्ध में कितने सजग थे, यह निम्नोक्त दृष्टान्त से प्रतीत होता है। जब नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) साधना के फलस्वरूप ऐसा लगा वे दूसरे में शक्ति-संचार कर सकते हैं और जब इसका परीक्षण उन्होंने अपने एक गुरुभाई कालीप्रसाद (स्वामी अभेदानन्द) पर किया, तो श्रीरामकृष्ण को बात मालूम पड़ने पर उन्होंने को धिक्कारा और कहा – "अभी कमाई हुई नहीं कि खर्च शुरू कर दिया!" यह भी कहा – "अपना भाव काली में संचारित कर तूने उसकी हानि की है।" इस घटना से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि जब तक व्यक्ति स्वयं पर्याप्त अर्जित न कर ले, तब तक शक्तिपात उसकी स्वयं की हानि करेगा और दूसरा यह कि जब तक वह इतना समर्थ नहीं है कि शिष्य के मनोभाव को समझ ले, तब तक शक्तिपात शिष्य का अमंगल ही करेगा। समर्थ गुरु ही शिष्य के भाव के अनुरूप उसमें शक्ति-संचार कर सकता है। ❖ **(क्रमशः)** ❖

शिक्षकों का कर्तव्य (३)

स्वामी रंगनाथानन्द

(रामकृष्ण संघ के वर्तमान अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने दिल्ली, फरीदाबाद तथा नोएडा में स्थित एपीजे स्कूलों के शिक्षकों को २ अप्रैल, १९८६ को सम्बोधित करते हुए अंग्रेजी भाषा में जो व्याख्यान दिया था, यह लेखमाला उसी पर आधारित है। मूल अंग्रेजी में भी इस व्याख्यान के अनेक संस्करण निकलकर काफी लोकप्रिय हुए है। विषय की नवीनता तथा विशेष उपादेयता देखते हुए हिन्दी में इसका अनुवाद किया है 'विवेक-ज्योति' सम्पादकीय विभाग के ही स्वामी प्रपत्यानन्द जी ने। – सं.)

६. त्याग और सेवा

शिक्षा का महत्त्व इसमें है कि यह बच्चे को पहले व्यक्तित्व और उसके बाद विकसित व्यक्तित्व (मनुष्यत्व) की प्राप्ति में सहायता करता है। शिक्षा सतत चलती रहती है। व्यक्तित्व के स्तर पर मनुष्य स्वयं को केन्द्र में रखकर संसार को अपने चारों ओर नचाने की कामना करता है। और विकसित व्यक्तित्व के रूप में वह उदार हो जाता है तथा अपने आसपास के लोगों के प्रति समर्पण एवं सेवा का भाव सीखता है। **व्यक्तित्व से विकसित व्यक्तित्व में आध्यात्मिक उन्नयन ही सच्ची शिक्षा है।** विकास का अर्थ है – विस्तार – यह शरीर के आकार तथा वजन में होनेवाला शारीरिक विकास मात्र नहीं है और न यह तथ्यों तथा सूत्रों के ज्ञान से होनेवाला बौद्धिक विस्तार ही है, अपितु यह तो उन आदर्शों के आत्मसातीकरण से होनेवाला आध्यात्मिक विकास है, जिसे स्वामी विवेकानन्द **त्याग और सेवा** कहते हैं। त्याग का अर्थ है – कच्चे अहंकार को त्याग कर परिपक्व अहंकार की अभिव्यक्ति और अपने मानव-भाइयों की सेवा हेतु अपने भाव तथा क्रिया में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं – त्याग और सेवा। उसकी इन धाराओं में तीव्रता लाने पर बाकी सब कुछ अपने आप ठीक हो जायेगा।"[१]

इस सन्देश ने भारत को ऊर्जा प्रदान किया, उसे सेवा-मार्ग को अपना कर, मानव द्वारा मानव के शोषण का मार्ग त्यागना सिखाया और अब भी सिखा रहा है। 'आध्यात्मिक' तथा 'आध्यात्मिकता' – शब्दों से डरने की जरूरत नहीं। यह एक महत्त्वपूर्ण शब्द है, जो मनुष्य की शारीरिक सीमा के उच्चतर स्तरों पर होनेवाले मानवीय विकास के लिए प्रयुक्त होता है। जैविक रूप से हम जन्म से ही सीमाबद्ध हैं, परन्तु प्रकृति ने हमें इस जैविक सीमा से परे जाने की क्षमता प्रदान की है। हममें अपने शारीरिक स्तर से ऊपर उठने, दूसरों को प्रेम करने, दूसरों की सेवा करने, दूसरों के हृदय में अपने लिए प्रीति उत्पन्न करने और अपने हृदय में दूसरों के लिए प्रीति उत्पन्न करने की क्षमता विद्यमान है। मनुष्य के स्वभाव में व्यक्त होनेवाली यह एक विशेष मानवीय क्षमता है, जो बाह्य भौतिक जगत् में व्यक्त होनेवाली प्रकृति का एक उच्चतर आयाम है। समाज के अन्य व्यक्तियों के परिप्रेक्ष्य में इस उच्चतर आयाम की अभिव्यक्ति ही शिशु के आध्यात्मिक विकास के रूप में प्रकट होती है। हम इसे नैतिक व मानवीय आदर्श कहते हैं। मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होने पर उसमें ये गुण स्वयं ही प्रकट होते हैं। इसीलिए इसे विकसित व्यक्तित्व कहा गया। जब हमारे बच्चे दूसरों के साथ शान्ति से रहने, मिलकर काम करने, दूसरों को प्रेम व सेवा देने में समर्थ होते हैं, तभी वे 'विकसित व्यक्ति' होते हैं, अन्यथा तब तक वे मात्र एक व्यक्ति हैं। 'व्यक्तित्व' से 'विकसित व्यक्तित्व' में इस तरह का आध्यात्मिक विकास सर्वप्रथम हमारे शिक्षकों में आना चाहिए। वे इसके लिए प्रयत्न करें, इसकी उपलब्धि करें और इसके बाद अपने छात्रों को भी इसे प्राप्त कराने में सहायता करें। यह एक महान् प्राथमिक कदम है, जिसे हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली में अपनाना है। यह मानव-संसाधन-विकास के लिए दी जानेवाली आदर्शनिष्ठ शिक्षा का मूल तत्त्व है; जो वर्तमान Learning to do (क्रियाशीलता की शिक्षा) के साथ, यूनेस्को की रिपोर्ट में सटीक रूप से निरूपित Learning to be (व्यक्तित्व-निर्माण हेतु शिक्षा) को जोड़ने से प्राप्त होगी।

आज जब हम 'मानव-संसाधन-विकास' पर चर्चा करते हैं, तो 'व्यक्तित्व' से 'विकसित व्यक्तित्व' के इस आध्यात्मिक विकास में हमें इसका एक बड़ा महत्त्वपूर्ण आयाम दृष्टिगोचर होता है। कक्षा भर विद्यार्थियों से शिक्षकों का मिलना – यह कितनी महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। ऐसी हजारों कक्षाओं के भीतर सम्पूर्ण राष्ट्र विद्यमान है। हम इन कक्षाओं में जो कुछ करते हैं, उसी से राष्ट्र का निर्माण होता है। यदि हम उन्हें सद्गुण तथा उदारता का प्रशिक्षण दें, तो वह हमारे प्रजातंत्र को सशक्त बनाएगा। हम उन्हें मानवीय दृष्टिकोण और सेवा की भावना से समृद्ध करते हैं। सेवा-भाव ही व्यक्तित्व-विकास या चारित्रिक विकास का सबसे प्रमुख उपादान है। जब एक व्यक्ति अपनी अतिरिक्त शक्ति, ज्ञान और क्षमता का दूसरों की सेवा हेतु उपयोग करना सीखता है, तब वह 'विकसित व्यक्ति' हो जाता है और एक नये ऊर्जा-स्रोत का विकास करता है, जिसे चरित्र-शक्ति कहते हैं। उपरोक्त दो शारीरिक तथा बौद्धिक ऊर्जाओं से उत्कृष्ट यह तीसरी और सर्वोच्च मानव-ऊर्जा-स्रोत है, शक्ति का स्रोत है।

१. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-४, तृतीय सं. १९८४, पृष्ठ-२६५

जिस शिक्षा में केवल प्रथम दो ऊर्जा-संसाधनों का विकास और तीसरे की उपेक्षा होती है, उससे सदा 'कच्चे अहं' की वृद्धि और उसके फलस्वरूप उत्पन्न निरन्तर आक्रामकता तथा शोषण-भाव की प्रधानता होगी। 'कच्चा अहं' सदैव आक्रामक होता है, क्योंकि वह स्वकेन्द्रित होता है, पर जब यह 'पक्का अहं' हो जाता है, तब यह अपने जीवन-दर्शन में दूसरों को स्थान देना सीखता है। तब वह समाज से प्रश्न पूछना सीखता है – "मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ? मैं आपकी कैसे सहायता कर सकता हूँ?" यह प्रश्न अनायास ही सहज रूप से आता है। 'स्वकेन्द्रित व्यक्ति' और 'परकेन्द्रित विकसित व्यक्ति' में यही भेद है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए मैं आपके समक्ष श्रीरामकृष्ण का एक दृष्टान्त प्रस्तुत करता हूँ –

एक पिता अपने दो बच्चों के लिए बाजार से दो फल लेकर घर आया। उसने दोनों बच्चों को एक एक फल दे दिया। बड़े पुत्र ने फल लिया, पसन्द आया, सीधे अपने कमरे में गया, दरवाजा बन्द किया, फल खाया, मुख साफ किया और आंगन में लौट आया। छोटे पुत्र ने फल लिया, पसन्द आया, सीधे आंगन में अपने मित्रों के बीच गया और उन सबके साथ मिल-बाँटकर उस फल का रसास्वादन किया।

अब इन दो बच्चों में कौन-सा सचमुच शिक्षित है? पहला बड़ा बुद्धिमान है, पर यह बुद्धिमानी स्वकेन्द्रित होने के कारण मात्र **चालाकी** है, वहाँ आपको 'व्यक्तित्व' दिखता है, 'विकसित व्यक्तित्व' नहीं। लेकिन दूसरा बच्चा 'विकसित व्यक्तित्व' में परिणत हो गया है। आध्यात्मिक विकास के कारण वह दूसरों के बारे में सोचता है और उसमें सेवा-भाव आ गया है। इसमें आपको बच्चे का नैतिक व मानवीय विकास परिलक्षित होगा। ऐसे दृष्टिकोण तथा ऐसी आत्मिक उन्नति को प्राप्त करने में हमारे बच्चों की सहायता की जानी चाहिए।

हमारे आज के समाज से सेवा-भाव का प्राय: लोप ही हो चुका है। आप किसी भी दफ्तर में जायँ, वहाँ कोई भी आपके प्रति सहानुभूति नहीं दिखाएगा, कोई भी आपकी ओर ध्यान नहीं देगा, आपको अपने वेतन या पेंसन के रूप में जो कुछ प्राप्य है, वह भी महीनों तक नहीं मिलेगा। क्यों? इसलिए कि इन कार्यों को सम्पन्न करनेवाले लोग दूसरों के प्रति संवेदनशील नहीं हैं; उन लोगों ने केवल अपने तथा अपने स्वार्थ के विषय में ही सोचना सीखा है। पर विदेशों के सभी दफ्तरों में सेवा का मूलभूत सद्गुण, दूसरों के प्रति सहानुभूति का यह भाव समान रूप से दीख पड़ता है। पर खेद की बात है कि यह हमारे देश में नहीं के बराबर ही विद्यमान है। यह हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का दोष है, जिसकी परिकल्पना 'शिक्षित व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा व प्रगति के यंत्र' के रूप में संकीर्ण उद्देश्य से हुई है। अपने व्याख्यानों के दौरान इस बात को स्पष्ट करने के लिए मैं प्राय: एक उदाहरण दिया करता हूँ –

१९६२ ई. में दिल्ली के रामकृष्ण मिशन से स्थानान्तरण के बाद, पाँच वर्षों तक मैं कोलकाता के रामकृष्ण मिशन सांस्कृतिक संस्थान का सचिव था। वहाँ 'अन्तर्राष्ट्रीय-भवन' है, जिसमें छात्रों और विद्वानों के लिए एक छात्रावास और पूरे विश्व से आनेवाले आगन्तुकों के लिए एक अतिथिशाला है। हमारे कार्यकाल में एक डच महिला इसकी व्यवस्थापिका थीं। वे इंग्लैंड की नागरिक थीं। एक दिन वे बड़ी खुशी के साथ मेरे पास आकर बोलीं, "स्वामीजी ! इंग्लैंड से मुझे एक चेक के साथ एक पत्र मिला है, जिससे पता चला कि मैं अपनी वृद्धावस्था-पेंसन की अधिकारिणी हूँ। मैं स्वयं इसकी पात्रता के विषय में कुछ नहीं जानती थी।"

इसका तात्पर्य समझने का प्रयास करें। वह महिला ब्रिटिश सरकार से अपने प्राप्य के विषय में अनभिज्ञ थीं, पर उनका लंदन का दफ्तर सुदूर भारत में कार्यरत अपने एक नागरिक की स्थिति के प्रति जागरूक है और उसका जो प्राप्य है, उसके बिना माँगे, उसके लिए बिना किसी का दरवाजा खटखटाए, उसे प्रदान कर रहा है। भारत में अपने कठोर श्रम से अर्जित पेंसन को प्राप्त करने के लिए भी कई वर्षों तक दफ्तरों की धूल फाँकनी पड़ती है। इससे पता चलता है कि हमारी शिक्षा ने कुछ सामाजिक रूप से उत्तरदायी विकसित व्यक्तियों की तुलना में लाखों की संख्या में स्वकेन्द्रित सीमित व्यक्तियों का ही निर्माण किया है। आज हमारे समक्ष एक महत्त्वपूर्ण शैक्षिक दायित्व विद्यमान है और वह है इस त्याग व सेवा के भाव का विकास तथा 'व्यक्तित्व' का 'मनुष्यत्व' में विकास। हम सभी समर्पण और सेवा-भाव से अनुप्राणित मनुष्य बनें। शिक्षक मनुष्य बनें और अपने छात्रों को भी 'मनुष्य' बनने में सहायता करें। यही शिक्षा का प्राण है। स्वामी विवेकानन्द ने इसे अपनी इस छोटी सी उक्ति में व्यक्त किया है – "बनो और बनाओ, यही हमारा आदर्श-वाक्य होगा।" स्वयं 'मनुष्य' बनो और दूसरो को भी 'मनुष्य' बनने में सहायता करो।

७. वैज्ञानिक और मानवीय दृष्टिकोण की आध्यात्मिकता

जो लोग दूसरों की जरूरतों तथा समस्याओ के प्रति संवेदनशील हो, जो मानवीय समस्याओ का स्वत:स्फूर्त भाव से समाधान करने का प्रयास करें, जब हमारे पास ऐसे सेवा-परायण लोगों की बहुतायत होगी, तभी हमारा देश विकास करेगा और सारी निर्धनता व निरक्षरता दूर हो जाएगी। यही वह प्रथम महान् प्रगति है, जो शिक्षा के माध्यम से आएगी। सभी महान् विकास विचार तथा विवेक से होते हैं। हम अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देनी होगी, जिससे वे स्वयं ही अपने विषय में सोचने में सक्षम हो सकें। हमें उनके भीतर वैज्ञानिक तथा मानवीय दृष्टिकोण का विकास करना होगा। १८९६ ई.

में लन्दन में प्रदत्त 'व्यावहारिक जीवन में वेदान्त' पर अपने एक भाषण में स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "हम चाहते हैं, उन्नति, विकास और सत्य का साक्षात्कार। किसी सिद्धान्त ने कभी मनुष्य को उन्नत नहीं बनाया। असंख्य ग्रन्थ भी पवित्र बनने में हमारी सहायता नहीं कर सकते। केवल अनुभूति में ही यह क्षमता है, जो हमारे भीतर निहित है और चिन्तन से प्रकट होती है। मनुष्य विचार करे। मिट्टी का ढेला कभी विचार नहीं कर सकता, वह सदा मिट्टी का ढेला ही बना रह जाता है। मनुष्य की महिमा उसकी विचारशीलता में है। यह उसका स्वभाव है और इसी में वह पशुओं से भिन्न है।"[२]

भारत के लिए यही वह महान् लक्ष्य है, जिसके लिए हमें कार्य करना है। दुर्बल बनानेवाले अनेक अन्धविश्वासों, अनेक अस्पष्ट विचारों और अनेक अमानवीय आचारों के बोझ से हमें मुक्ति पानी है। इसलिए हमे न केवल विज्ञान के विषय पढ़ाने हैं, अपितु वैज्ञानिक प्रवृत्ति और दृष्टिकोण के विकास पर भी जोर देना होगा। और यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानवीय दृष्टिकोण से संयुक्त होगा। ये दोनों मिलकर मनुष्य का वह आध्यात्मिक विकास सम्पन्न करते हैं, जो वेदान्त में निरूपित है। ये सत्य के बुद्धिपरक खोज और मानवीय सुख व कल्याण को सुनिश्चित करने की तीव्र आकांक्षा के रूप में व्यक्त होते हैं। इसलिए यह कार्य केवल विज्ञान के शिक्षकों का नहीं, अपितु सभी शिक्षकों का है। शिक्षा के द्वारा हमें अपने राष्ट्र को एक ऐसे विचारशील, विश्लेषण-परक, वैज्ञानिक समुदाय में रूपान्तरित करना है, जो सत्य तथा सम्पूर्ण मानवीय कल्याण की तीव्र आकांक्षा के द्वारा अनुप्राणित होगा। दोनों ही आकांक्षाएँ रचनात्मक तथा क्रियात्मक हैं। जब आप बच्चों में ये दो प्रकार की आकांक्षाएँ जाग्रत कर देंगे, तब वे लोग राष्ट्र की महान् आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत का मूल्यांकन करने और आम जनता के जीवन को उन्नत करने की क्षमता प्राप्त कर लेंगे। तब वे उपनिषदों के उदात्त दर्शन तथा आध्यात्मिकता और उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को समझना आरम्भ करेंगे। उपनिषदों के ऋषि भी सत्य और मानव के सुख व हित की आकांक्षा से उद्वेलित हुए थे। उन लोगों ने बौद्धिक जिज्ञासा तथा गम्भीर ध्यान के द्वारा अपने उद्देश्य की सिद्धि थी। हम लोग केवल तभी अपनी संस्कृति, अपनी आध्यात्मिकता, अपने दर्शन की सही महत्ता समझ सकेंगे, जब हम एक बौद्धिक, सत्यान्वेषी तथा वैज्ञानिक मस्तिष्क का विकास करेंगे।

वेदान्त सर्वदा बौद्धिक और जिज्ञासु दृष्टिकोण पर बल देता है। इसलिए हमारी शिक्षा-प्रणाली हमारे बच्चों में इस प्रकार के युक्तपूर्ण, वैज्ञानिक और सत्यान्वेषी दृष्टिकोण के विकास में सहायक होनी चाहिए। सत्य क्या है? सच्चा जीवन क्या है? मिथ्या जीवन के स्थान पर हम कैसे सच्चा जीवन बिताएँ? इस प्रकार की खोज तथा जिज्ञासा-भरा दृष्टिकोण हमारे बच्चों में निहित सर्वोच्च सम्भावनाओं को प्रकट करने में सहायक होगा और ऐसे रूपान्तरित बच्चों से हमारा सम्पूर्ण राष्ट्र 'मानवीय ऊर्जा' रूपी अपनी वास्तविक सम्पत्ति का विकास कर सकेगा; यही सच्चा मानव-संसाधन-विकास है। यही जाति-धर्म, लिंग-भेद आदि से निरपेक्ष मानव-को-मानव से जोड़ेगा और हमारे राष्ट्र को सचमुच ही महान् बनाएगा। हमारा वेदान्त-दर्शन हमारी मूलभूत एकता के सत्य को रेखांकित करता है। वेदान्त के मतानुसार एक ही दिव्य शक्ति समस्त प्राणियों में विचरण कर रही है। इसीलिए 'व्यक्तित्व' से 'विकसित व्यक्तित्व' के इस आध्यात्मिक विकास के फलस्वरूप दूसरों के प्रति प्रेम तथा संवेदना का भाव अपने आप ही आ जाता है।

अपने राष्ट्र का महान् दर्शन – वेदान्त की पृष्ठभूमि में 'व्यक्तित्व' और 'विकसित व्यक्तित्व' इन दो शब्दों के अर्थ को समझने की चेष्टा करो। वेदान्त के अनुसार धर्मविज्ञान को परिभाषित करते हुए स्वामी विवेकानन्द कहते हैं – "मनुष्य में पहले से ही निहित देवत्व को व्यक्त करना ही धर्म है।" इस देवत्व की अल्प अभिव्यक्ति भी प्रेम, सेवा, रचनात्मकता और शान्ति की सृष्टि करती है। यह व्यक्ति को और अधिक ऊर्जा तथा इस ऊर्जा का समाज की सेवा में उपयोग करने की प्रवृत्ति से युक्त करती है। **यही तो शिक्षा की अन्तरात्मा है – मानव में ऊर्जा-संसाधनों का विकास और इसे एक मानवीय दिशा प्रदान करना।** बच्चों को यह सब शिक्षकों से प्राप्त होना चाहिए। ज्ञान की वृद्धि से ऊर्जा की वृद्धि होती है। इसलिए आप अपने छात्रों में ज्ञान की वृद्धि का प्रयास करें। देखें कि उनकी ज्ञान की खोज केवल पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित न रह जाय। उन्हें पुस्तकालय में जाकर मूल सन्दर्भ-ग्रन्थों को पढ़ने और अधिकाधिक सूक्ष्म ज्ञान अर्जित करने, जो कुछ सीखा है उस पर चिन्तन करने और इस पर शिक्षकों तथा अन्य छात्रों के साथ चर्चा करने के लिए उत्साहित किया जाना चाहिए। इस प्रकार शिक्षक न केवल शिक्षा प्रदान करता है, अपितु छात्रों को स्वयं ज्ञानान्वेषण करने को प्रेरित भी करता है। अनेक दूसरे देशों में मैं छात्रों को ऐसा ही करते देखता हूँ; उनमें ज्ञान के प्रति आकर्षण और उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयास या तपस्या है। और संस्कृत शब्द 'विद्यार्थी' का यही तात्पर्य है। विद्या – ज्ञान (का), अर्थी – अन्वेषक। हमारे इतिहास के प्रारम्भिक ३००० वर्षों के दौरान इसी प्रकार के छात्रों तथा शिक्षकों ने भारतीय इतिहास को आलोकित किया और एक समृद्ध एवं महान् संस्कृति का निर्माण किया। हमारी वर्तमान जड़ता तो लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ही हममें प्रविष्ट हुई है और इस समय हम उसी के चंगुल से मुक्त होने के प्रयास में लगे हैं।

२. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-८, तृतीय सं. १९८५, पृष्ठ ४४

हमारे समृद्ध संस्कृत की परम्परा के निम्नलिखित लोकप्रिय श्लोक में छात्र के ज्ञानार्जन की परिकल्पना बड़े ही सुन्दर रूप से प्रतिपादित हुई है –

आचार्यात् पादं आधत्ते, पादं शिष्यः स्वमेधया ।
पादं स-ब्रह्मचारीभ्यः पादं कालक्रमेण च ।।

– 'एक ब्रह्मचारी या विद्यार्थी अपने ज्ञान का एक चतुर्थांश अपने आचार्य या शिक्षक से प्राप्त करता है; दूसरा चतुर्थांश अपनी मेधाशक्ति या बुद्धि के द्वारा अर्जित करता है; तीसरा चतुर्थांश अपने सहपाठी विद्यार्थियों के साथ परस्पर चर्चा के द्वारा प्राप्त करता है और बाकी चतुर्थांश समय आने पर अपने आप ही (अनुभव द्वारा) प्राप्त करता है।'

आज हम अपनी शिक्षा-प्रणाली के सभी स्तरों पर ज्ञान की उस पिपासा को खो बैठे हैं; इसे हमें पुनः प्राप्त करना है। इस समय हमारे देश में केवल शैक्षिक उपाधियों और नौकरियों के लिए पिपासा ही विद्यमान है, जिसका उल्लेख सर जूलियन हक्सले ने मेरी पुस्तक 'उपनिषदों के सन्देश' (पृ. ५५३) पर अपने पत्र में और मैंने भी अपने उत्तर में किया है –

"आप (सर जूलियन हक्सले) ने लिखा है – "स्वामीजी ने ('सन्देश' के) पृष्ठ २६३ पर शिक्षा जैसी होनी चाहिए और जैसी कभी कभी होती भी है, इसकी बड़ी सुन्दर परिभाषा की है। परन्तु अपनी भारत-यात्राओं के दौरान मैंने देखा कि भारत के अधिकांश पूर्व-स्नातकीय छात्रों का उद्देश्य इस प्रकार की शिक्षा का आनन्द लेना नहीं, अपितु परीक्षाएँ पास करके नौकरी के लिए उपयोगी उपाधियाँ प्राप्त करना था।

"दुर्भाग्यवश यह पूर्णतः सत्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक भौतिकवाद, विशेषतः जैविक भौतिकवाद का फल – ऐन्द्रिक दुराचार आज के भारतीय युवा को वैसे ही सशक्त रूप में प्रभावित कर रहा है, जैसे कि इसने अन्य स्थानों के युवकों और अन्य लोगों को किया है। बीसवीं शताब्दी के विज्ञान, विशेषतः जीव-विज्ञान का सन्देश और आपका अपना मनो-सामाजिक क्रम-विकास का सिद्धान्त, जिसमें जीवन की गुणात्मक समृद्धि पर बल दिया गया है, कुछ दशकों में आम बात हो जाएगी और इससे प्राच्य और पाश्चात्य दोनों में स्वस्थ परिवर्तन आएगा। भारत शिक्षा में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को स्थापित करने की समस्या से जूझ रहा है। इस कार्य के लिए उसके पास पूर्व तथा पश्चिम के प्राचीन तथा आधुनिक – सब प्रकार के विचारों का ढेर है, जिसमें स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गाँधी जैसे आधुनिक विचारक तथा जननायक प्रमुख हैं। 'शिक्षा' पर संकलित स्वामी विवेकानन्द के विचारों की एक छोटी पुस्तक की प्रस्तावना के रूप में गाँधीजी लिखते हैं – 'निश्चय ही स्वामी विवेकानन्द के उद्गारों को किसी भूमिका की जरूरत नहीं है, वे स्वयं ही अपना अदम्य प्रभाव डालती हैं।'

"अँग्रेज सरकार ने विगत शताब्दी में क्लर्कों के निर्माण हेतु जो शिक्षा-प्रणाली आरम्भ की थी, वर्तमान भारतीय शिक्षा मूलतः उसी को लेकर चल रही है। छात्रों की संख्या मे इसने काफी वृद्धि की है, लेकिन इसके स्तर में गिरावट आयी है। इसमें न तो प्राचीन भारतीय पद्धति की अच्छाइयाँ हैं और न ब्रिटिश पद्धति की, परन्तु इसमें दोनों की दोष अवश्य विद्यमान हैं। इससे प्रतिवर्ष मनुष्य नहीं, बल्कि समाज के पेशाधारक – ढेरों वकील, चिकित्सक, इंजीनियर आदि उत्पन्न होते हैं। परन्तु दूर के किन्हीं खामोश कोनों में भारत शिक्षा के विषय पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रयोग कर रहा है और कहीं चुपचाप रचनात्मक विचार तथा चर्चाएँ भी चल रही हैं। हमें आशा है कि आगामी दशकों में इन सबका प्रभाव हमारी शिक्षा-प्रणाली पर पड़ेगा। सच तो यह है कि आज भारत में शिक्षा, राजनीति, धर्म, समाज आदि सब कुछ परिवर्तन के मार्ग पर हैं। यह अपने सुदीर्घ इतिहास के सबसे क्रान्तिकारी दौर से होकर गुजर रहा है। इसके आधुनिक चिन्तक तथा जननायक, विशेषतः स्वामी विवेकानन्द इस परिवर्तन के विस्तार तथा सम्भावनाओं से पूर्णतः परिचित थे। आनेवाली चीजों के स्वरूप की कोई सटीक भविष्यवाणी नहीं कर सकता, परन्तु इस (भारत) के महान् राष्ट्रनेताओं ने इसके समाज व राजनीति में महान् विचारधाराएँ प्रवाहित कर दी है। और फिर देश में वैचारिक स्वतंत्रता है और साथ ही युवासुलभ ऊर्जा तथा क्रियाशीलता है। इन सबके योग से आधुनिक भारत मानव-शास्त्र की एक विशाल प्रयोगशाला बन गया है, जिसमें दुनिया की आबादी का छठा हिस्सा शामिल है। और स्वामी विवेकानन्द के ये शब्द हमें आश्वस्त करते हैं – "हमें केवल रासायनिक सामग्रियों को एकत्र भर कर देना है, उनका निर्दिष्ट आकार प्राप्त करना – रवा बँध जाना तो प्राकृतिक नियमों से ही साधित होगा।"

❖ (क्रमशः) ❖
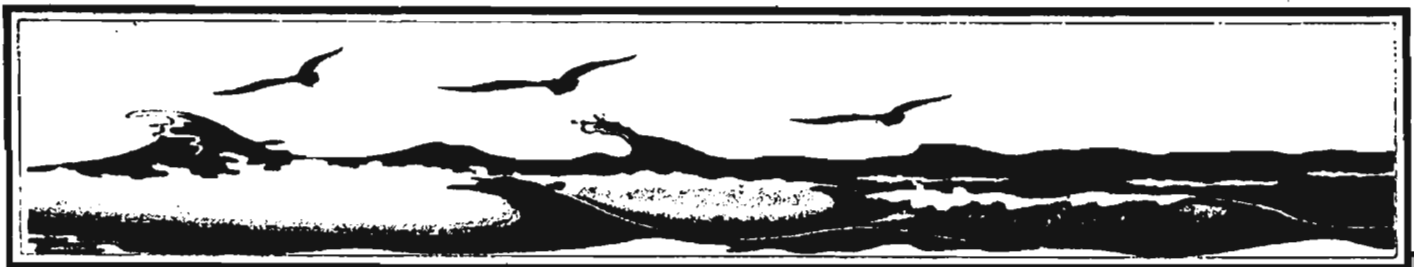
कृष्ण-अर्जुन-संवाद का रहस्य (२)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतांचा अन्तरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम जनवरी अंक से क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

हमने देखा कि जगत् तथा जीवन के अन्तिम सत्य – परमात्मा – की प्राप्ति का मार्ग जो 'स्वधर्म' है, उसका आचरण करने के लिए क्षत्रिय अर्जुन रणभूमि में आ पहुँचे थे। परन्तु ऐन मौके पर दोनों पक्षों मे स्वजनों को देखकर उनकी मानव-स्वभाव-सिद्ध आसक्ति सहसा प्रबलता के साथ प्रगट हो उठी। अब मेरे ये सारे सगे-सम्बन्धी निश्चित रूप से विनाश को प्राप्त होंगे – इस कल्पना से ही उन्हें अत्याधिक शोक होने लगा। इस असीम शोक ने मोह का रूप धारण कर अर्जुन के विवेक का लोप कर दिया। और तब इस अविवेक से आच्छन्न अर्जुन को स्वधर्म का आचरण पाप तथा दोषपूर्ण लगने लगा। स्वधर्म-पालन हेतु इस धर्मयुद्ध में स्वयं ही प्रवृत्त होनेवाले अर्जुन इस मन:स्थिति के कारण युद्ध से पीछे हटने की भाषा बोलने लगे, और इतना ही नही, जो संन्यास उनका धर्म नहीं था, जिस संन्यास-जीवन के वे अधिकारी नही थे, उसका आश्रय लेना, अब उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत होने लगा। भीष्म-द्रोण पर बाणों की वर्षा करने की जगह अब उन्हें सहसा उन पर फूल चढ़ाने की इच्छा होने लगी और कर्ण-जयद्रथ आदि से दो दो हाथ करने के विचार से ही उन्हें डर लगने लगा। उनके दिल की धड़कन बढ़ गई।

– २ –

हमने यह भी देखा कि इन सभी भीषण प्रतिक्रियाओं की श्रृंखला का मूल कारण 'आसक्ति' है।

प्रश्न उठता है कि इस मूल 'आसक्ति' का क्या कारण है?

* * *

दोनों ही पक्षों की ओर से लड़नेवाले सगों को देखकर अन्त:करण में 'पराकृपा' (श्रीकृष्ण के शब्दों में 'हृदय की क्षुद्र दुर्बलता' अर्थात् घोर आसक्ति) उमड़ने के बाद अर्जुन ने इन सगे-सम्बन्धियों के विषय में मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त अर्थपूर्ण, अत्यन्त प्रकाशक एक विशिष्ट शब्द का बारम्बार उच्चारण किया है। वह शब्द है – 'स्वजन'।

इस 'स्वजन' शब्द के स्व पर ध्यान केन्द्रित किया जाय, तो अर्जुन के मन में इस प्रकार सहसा उमड़ी घोर आसक्ति का कारण तत्काल ही समझ में आ जाता है। देखिए – जब तक अर्जुन के बोध में वे सभी लोग केवल जन थे, तब तक वे आनन्दपूर्वक स्वधर्म के लिए युद्ध करने को तत्पर थे। परन्तु वे 'जन' उन्हें 'स्व' (अपने) प्रतीत होने के साथ ही अर्जुन की संस्कारसुप्त आसक्ति प्रकट हुई और वे शोक-मोह से ग्रस्त होकर स्वधर्म-त्याग तथा परधर्म-सेवन करने को उद्यत हुए।

सारांश यह कि यह 'स्वजन'-बोध – ये सब 'स्व' अर्थात् मेरे हैं और मैं इनका हूँ – यह बोध – यह 'मैं' और 'मेरे' का बोध ही अर्जुन की आसक्ति का कारण है।

* * *

केवल अर्जुन के हीं नहीं, बल्कि हम सभी के आसक्ति का कारण, प्राणीमात्र की आसक्ति का आधार यह मैं-मेरा का बोध ही है।

– ३ –

और इसीलिए इस 'मैं' और 'मेरे' का, इस 'अहं' और 'मम' का सच्चा स्वरूप क्या है – यह भगवान ने – तत्त्वदर्शी श्रीकृष्ण के तत्त्वविमूढ़ अर्जुन को समझाते हुए बतलाना आरम्भ किया।

क्योंकि अन्य किसी भी उपाय से अर्जुन का वह प्राणशोषी शोक दूर होनेवाला नहीं था, दूसरी किसी भी बात से आसक्ति-शोक-मोह-अविवेक-स्वधर्मत्याग-परधर्मसेवन आदि की यह अनर्थकारी प्रतिक्रिया-श्रृंखला समाप्त होनेवाली नहीं थी।

अर्जुन की समस्या किसी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सैन्य-सम्बन्धी या ऐसे किसी भी अन्य प्रकार की नहीं थी। आध्यात्मिक दृष्टि के आच्छन्न हो जाने के कारण ही उनकी इस समस्या का, इस बेचैनी का जन्म हुआ था। और इसीलिए सत्यदर्शी योगेश्वर ने उस समय उन्हें उनके लिए अपरिहार्य रूप से आवश्यक आध्यात्मिक ज्ञान दिया। (और इसीलिए उस 'विज्ञानसहित अर्थात् स्वानुभव-युक्त ज्ञान' को पाकर अन्त में अर्जुन सानन्द कृतज्ञता के साथ कहते हैं – 'हे अच्युत, तुम्हारी कृपा से समस्त अनर्थों के लिए कारणीभूत होनेवाला मेरा अज्ञान-जनित मोह नष्ट हो गया, मुझे आत्मविषयक स्मृति प्राप्त हुई है, मेरे सारे सन्देह दूर हो गये हैं। अब मैं आपके कथनानुसार आचरण करूँगा।'')

तो इस प्रकार प्रभु ने तत्काल समझ लिया था कि इस सम्पूर्ण अनर्थ-श्रृंखला का मूल कारण 'हृदय की क्षुद्र दुर्बलता' अर्थात् 'आसक्ति' है और इस आसक्ति के मूल में भी 'अहं-मम' या 'मैं-मेरा' का बोध ही है। यह जानकर उन्होंने उसको

स्पष्ट करनेवाला, उस 'मैं-मेरे' के सच्चे स्वरूप को प्रकाशित करनेवाला ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान, अर्जुन को और उनके द्वारा हम सभी ज्ञानान्धों को बताना आरम्भ किया।

– ४ –

भगवान ने अर्जुन को क्या बताया?

* * *

श्रीकृष्ण द्वारा उनका अज्ञानध्वंशी उपदेश आरम्भ करने के पूर्व, उनके यथार्थ डाँट-फटकार से अर्जुन के अन्दर थोड़ा-सा बोध तो जगा था – उनके विवेक को आच्छन्न करनेवाली आसक्ति तथा उससे उत्पन्न प्रतिक्रियाओं का अँधेरा उस यथार्थ फटकार से थोड़ा छँटकर उनके अन्दर का विवेक जरा-सा प्रकाशित हुआ था। विवेक के उस धुँधले प्रकाश में अस्पष्ट रूप से क्यों न हो, पर अर्जुन को इस बात का भान हो चुका था कि स्वजन-विनाश की कल्पना मात्र से होनेवाले शोक के कारण उनका सच्चा स्वभाव आच्छादित हो गया है और उन्हें स्वधर्म या स्वकर्तव्य के विषय में मोह या भ्रम हो गया है। हमें मोह हो चुका है, हम द्वन्द्व में पड़े हैं – इस बात को जानना भी बड़ी महत्वपूर्ण बात है। यह ज्ञान मनुष्य की ग्रहणशक्ति को जाग्रत करता है – उसे उस मोह, उस अस्थिरता को दूर कर सकनेवाले सत्य के आकलन का पात्र बनाता है। सारांश यह कि अर्जुन की ग्रहणशक्ति तथा आकलन-क्षमता अब थोड़ी-सी जाग्रत हो चुकी थी। और इसीलिए अर्जुन पूरी नम्रता के साथ, पूरे मनःप्राण से कह सके – 'मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरण में हूँ, मेरा सच्चा हित किसमें है यह मुझे बताओ।' नहीं तो, 'मुझे लड़ना नहीं है' – अपने इस विचार को कार्य रूप में परिणत कर अर्जुन रणभूमि से चले गये होते या अपने मन से ही कुछ विपरीत कार्य कर बैठे होते। पर विवेक की उस जरा-सी जागृति के कारण अर्जुन वैसा कुछ भी न करते हुए केवल चुपचाप बैठ गये – इस शोकाकुल संघर्षमय विचित्र मनःस्थिति के कारण वह स्तम्भित जैसे होकर केवल चुपचाप बैठ गये।

इस प्रकार अर्जुन को कुछ सुनने की मनःस्थिति में आया देखकर भगवान उनकी ओर उन्मुख होकर मानो खिलखिलाकर हँस पड़े! – " 'प्र'हसन इव" !

कितना अर्थपूर्ण था वह हास्य!

लड़ाई के लिए सुसज्ज खड़ी दोनों सेनाओं के ठीक मध्य-भाग में, उस अनुचित स्थान पर और अनुचित समय पर, 'उस प्रकार' के विषाद से पूर्णतः हिम्मत हार चुके अपने प्राणप्रिय सखा की ओर देखकर प्रभु सहसा खिलखिला कर हँस पड़े। 'अहा-हा' – सम्पूर्ण भावी गीता – जगत् को अब शीघ्र ही प्राप्त होनेवाला वह अपूर्व अजर-अमर जीवन-विज्ञान – उस हास्य में समाया हुआ था, छिपा हुआ था। अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले अर्जुन का वह अपार विषाद उस हास्य से प्रकाशित होने पर वे भी अन्त में हर्षित होनेवाले थे और कृतज्ञ आनन्द के साथ कहनेवाले थे – "प्रभो, आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, सन्देह दूर हो गए, मुझे सत्य की स्मृति हो आयी है और अब आप जो भी कहेंगे, मैं वैसा ही करूँगा।"

– ५ –

हाँ, तो इस तरह विषादमग्न अर्जुन की ओर देखकर हँसते हँसते भगवान ने उससे कहा –

"हे अर्जुन, घोर युद्ध के आवेश के साथ रणभूमि में आने के बाद तुमने कहा कि युद्ध में अपने स्वजनों को मारने में मुझे भलाई नहीं दिखती। तुमने कहा कि केवल राज्य के लिए, सुख व भोग के लिए स्वजनों को क्यों मारा जाय! तुमने मुझसे पूछा कि धृतराष्ट्र के इन पुत्रों के मारने से क्या लाभ होगा। तुमने कहा कि ये सब स्वार्थ-लोभ से ग्रसित होने के कारण सिरफिरे हैं, फिर भी उन्हें मारने से मित्रद्रोह का पाप एवं कुलक्षय का दोष लगेगा। तुमने सविस्तार भलीभाँति बताया कि कुलक्षय से मानव किस तरह नरक में जाता है। तुमने कहा कि पूजा के पात्र इन गुरुजनों को मारकर रक्तरंजित भोग भोगने की अपेक्षा ब्रह्मध्यानमय संन्यास-जीवन ही श्रेयस्कर है।

"हे अर्जुन, तुम बोल तो रहे हो बुद्धिमान के समान, ज्ञानवान के समान, परन्तु तुम्हारा व्यवहार ठीक उसके विपरीत है। जिनके बारे में किसी तरह का शोक करना उचित नहीं है, उनके विषय में अज्ञानजन्य आसक्ति के कारण अन्धे होकर तुम शोक मोह अविवेक आदि का शिकार बन रहे हो और बाते करते हो किसी ज्ञानी-ध्यानी के समान। हे अर्जुन, अब यह भी सुन लो कि जो सच्चे बुद्धिमान हैं, सच्चे ज्ञानवान हैं, जिन्हें तत्वों का अर्थात् इस 'अहं-मम'-मय जगत् के सत्य-स्वरूप का बोध हो चुका है, ऐसे ज्ञानी क्या कहते हैं और कैसे व्यवहार करते हैं, वे जीवन की ओर स्वयं की ओर तथा जगत् की ओर किस दृष्टि से देखते है।

"हे अर्जुन, इस जगत् में दो सत्ताएँ हैं। उनमें से एक तो नाम-रूपवाली ये नाना वस्तुएँ हैं। ये नाम-रूपात्मक वस्तुएँ – यह 'मैं' और 'जगत्' – ये अस्तित्व में आती हैं, अस्तित्व में आकर निरन्तर बदलती रहती हैं और अन्त में विनाश को प्राप्त होती हैं। और इसलिए ये सब 'असत्' या असत्य होती हैं। (क्योंकि सत् या सत्य उसे कहा जाता है, जो कभी बदलता नहीं, जिसके स्वरूप में कभी व्यभिचार नहीं आता।)

"(इस प्रकार ये नामरूपात्मक बदलती हुई वस्तुएँ 'असत्' होती हैं, तथापि वंध्यापुत्र की भाँति शून्य नहीं होती, बल्कि बादलों में दिखनेवाले बाघ, सिंह, राक्षस आदि के जैसे हैं। ये बाघ-सिंह-राक्षस-आदि अस्तित्व में आते हैं। अस्तित्व में आकर सतत बदलते रहते हैं और अन्त में विनाश को प्राप्त होते हैं। इस तरह वे बदलते रहते हैं, उनके स्वरूप में

परिवर्तन होता रहता है, अत: वे वस्तुत: 'असत्' या असत्य हैं, पर वे वंध्यापुत्र के समान शून्य नहीं होते। क्योंकि इस बाघ, सिंह, राक्षस आदि का आधारभूत मेघ वहाँ है – वह मेघ ही इन बाघ-सिंह-राक्षसों के रूप तथा नाम में विलसित होता है। इन बाघ-सिंहादि के नाम व रूप के अस्तित्व में आने के पूर्व भी वह मेघ ही रहता है। ये अस्तित्व में आकर बदलते जाते हैं, तो भी वह मेघ रहता है और उनका विनाश हो जाने के बाद भी वह मेघ विद्यमान ही रहता है। वह सदा ही रहता है, उसके मेघ-स्वरूप में कभी परिवर्तन या व्यभिचार नहीं होता, अत: उसे 'सत्' या सत्य कहते हैं।) वैसे इन सभी परिवर्तनशील, नामरूपात्मक वस्तुओं के रूप में विलसनेवाली, इन आभासों द्वारा भासित होनेवाली सत्ता, कभी न बदलनेवाली या अव्यभिचारी होने के कारण 'सत्' या सत्य है।

"हे अर्जुन, इस तरह इस विश्व-ब्रह्माण्ड में दो सत्ताएँ हैं – पहली नामरूपात्मक वस्तुओं की बदलती हुई या व्यभिचारी सत्ता और दूसरी इन नाम-रूपों में विलसनेवाले सच्चिदानन्द परब्रह्म की कदापि न बदलनेवाली या अव्यभिचारी सत्ता।

"इनमें से नाम और रूप धारण करनेवाले 'असत्' या असत्य हैं याने मिथ्या हैं। और इनमें बसनेवाला वास्तविक नामी या रूपी 'सत्' अर्थात् सत्य है।

"हे अर्जुन, असत् या मिथ्या नाम-रूपों का हमें बोध होता है, पर वस्तुत: वे अस्तित्व में नही होते। 'असत्' वस्तुओं का 'भाव' या अस्तित्व कभी नहीं होता और 'सत्' या सत्य वस्तुओं का अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होता – उसका कभी 'अ-भाव' नहीं होता। असत् वस्तुएँ भासित होते हुए भी नहीं होती और सत् वस्तुएँ भासित न होते हुए भी होती है – असत् वस्तुओं के नाम-रूप में वह सत् वस्तु ही भासित होती है।

"हे अर्जुन, जो 'ज्ञानी' होते हैं उन्होंने इन असत्य नामरूपों और उनमें स्थित सत्य का स्वरूप भलीभाँति देख लिया है और अपनी प्रत्यक्षानुभूति के अनुसार इन दोनों के विषय में उपरोक्त निश्चित सिद्धान्त स्थिर हुआ है। (और इसी कारण वे कभी भी अज्ञानियों को ही शोभा देनेवाले आसक्ति-जनित हर्ष-शोक का शिकार बनकर उनकी प्रतिक्रियाओं में नहीं बहते।)

"हे अर्जुन, (पानी जैसे लहरों में और रज्जु जैसे रज्जुसर्प में व्याप्त रहता है, वैसे ही) अविनाशी सच्चिदानन्द स्वरूप परमार्थ सत्ता ने इस विनाशी-असत्-अचित्-अनानन्दात्मक नाम-रूपों को व्याप्त कर रखा है।

"हे अर्जुन, इस नाम-रूपात्मक विनाशी शरीरों में स्थित वह नित्य, अविनाशी आत्मनाथ ही यथार्थ शरीरी है। और इस कारण हे अर्जुन, इस मिथ्या 'मैं-मेरे' के प्रति इस भ्रान्तिमय आसक्ति को त्यागकर तथा उससे उत्पन्न शोक, मोह, अविवेक को बलपूर्वक हटाकर, उस परमात्मा की प्राप्ति का 'स्वधर्म' रूप जो मार्ग है उसे अपनाने के लिए – तुम्हारा स्वधर्म जो युद्ध है वह करने के लिए तुम तैयार हो जाओ।"

– ६ –

योगेश्वर श्रीकृष्ण ने तत्काल जान लिया था कि जगत् और जीवन के परम सत्य के प्राप्ति का 'स्वधर्म' रूप जो अचूक मार्ग है, अर्जुन उसके आचरण के लिए उद्यत थे; परन्तु अपने 'स्वजनों' को देखकर सहसा उनकी मानव-स्वभाव-सिद्ध आसक्ति उमड़ आयी है और उसी के द्वारा उसका शोक-मोह-अविवेक प्रकट हुआ है, इन दोषों के उभर आने के कारण उनके स्वधर्म छोड़कर परधर्म के अनुचित मार्ग पर चल पड़ने का महाभय उत्पन्न हो चुका है। सत्यस्वरूप प्रभु जानते थे कि 'स्व' और 'जन' – 'मैं' और 'मेरे' – यह बोध ही इस स्वजन-आसक्ति का, इस सम्पूर्ण अनर्थ-शृंखला का मूल कारण है। और इस कारण उन्होंने इस अचूक निदान के अनुसार अर्जुन को अमोघ 'औषधि' बताई – उन्हें 'मैं और मेरा' का वास्तविक स्वरूप बताया – उन्हें 'आत्मज्ञान' प्रदान किया।

श्री रामानुजाचार्य ने भी इस ज्ञान को 'आत्म-याथात्म्य-ज्ञान' कहा है। श्रीधर स्वामी ने इसे 'ज्ञानयोग' कहा है और श्री शंकराचार्य ने इसे कहा है – 'परमार्थ-दर्शन'।

श्री शंकराचार्य आगे कहते हैं कि यह ज्ञान या यह दर्शन – **'साक्षात् शोक-मोहादि-संसार-हेतु-दोष-निवृत्ति-कारणम्'** – जन्म-मरण के बारम्बार निरन्तर चक्र के लिए कारणीभूत होनेवाले शोक, मोह आदि दोषो का निराकरण करनेवाला है।

और यह उचित भी है। इन शोक-मोह आदि दोषों का कारण है – आसक्ति। और इस आसक्ति का कारण है – 'मैं-मेरा' का बोध। इस 'मैं-मेरा' का मूलभूत भ्रान्तिबोध इस 'मैं' तथा 'मेरा' के सच्चे स्वरूप के ज्ञान से यानी 'आत्म-याथात्म्य-ज्ञान' या 'परमार्थ-दर्शन' से उद्भासित होकर यह 'मैं' तथा 'मेरा' उस एकमेव अद्वितीय चैतन्यनाथ का लीला-विलास है. 'चिद्विलास' है – यह बोध अन्त:करण में यथार्थ रूप से उदित होने पर, उस मूल भ्रन्तिबोध के साथ ही उससे उत्पन्न आसक्ति-शोक-मोह आदि की प्रतिक्रिया-शृंखला भी बन्द होकर सदा के लिए लुप्त हो जाय – यह सम्भव ही नहीं, अनिवार्य है।

* * *

अब प्रश्न केवल यह है कि ऐसी विशेषताओं से सम्पन्न यह 'आत्म-याथात्म्य-ज्ञान' या यह 'परमार्थ-दर्शन' अथवा यह 'चिद्विलास'-बोध हमारे अन्त:करण में उदित कैसे हो!

एक बड़ा गरीब तथा भोले स्वभाव का ब्राह्मण था। बेचारा गरीबी तथा उससे उत्पन्न समस्याओं से खूब परेशान हो चुका था। एक दिन उसके एक विनोदप्रिय मित्र ने उससे गम्भीरता-पूर्वक कहा – "भाई, तुम यदि राजा बन सको तो तुम्हारी यह गरीबी तथा उससे उपजी सारी समस्याएँ सदा के लिए दूर हो

जाएँगी।'' ब्राह्मण को बात जँच गई। उसने तत्काल अपनी पत्नी के पास जाकर यह रामबाण उपाय बताया। अशिक्षित ब्राह्मणी ने आँखें मिटमिटाते हुए एक छोटी-सी शंका प्रगट की – ''वह तो ठीक है, पर तुम राजा कैसे बनोगे?''

* * *

सारांश यह 'आत्मज्ञान' केवल 'जानने' भर से नहीं होगा, उसे अन्तरंग में 'जगाना' होगा।

परम दयालु प्रभु को इस वस्तुस्थिति तथा इस विषय में अर्जुन सहित हम सबकी समस्याओं की धारणा तो थी ही। और इसीलिए महा-भयावह संसार-रोगों की प्रामाणिक दवा बताकर, इस अहं-मम रूपी मूल महा-अनर्थ के निवारण का सच्चा उपाय बताकर, वह अति दुर्लभ औषधि, अति दुर्लभ उपाय कैसे प्राप्त हो, यह अर्जुन और उनके द्वारा हम सबको बताते हुए प्रेममय भगवान गम्भीर स्वर में कहते हैं –

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिः योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।

– ७ –

भगवान बोले – ''अर्जुन, आत्मस्वरूप जान लेने के लिए जिस बोध की जरूरत होती है, वह मैंने तुम्हें बता दिया।'' आत्मस्वरूप के बारे में, 'मैं' तथा 'जग' के बारे में, अन्तर में इस बोध का उदय होने पर अज्ञान का समूल नाश होकर उनके सत्य-स्वरूप का ज्ञान होता है। तथापि जिस आत्मस्वरूप के बोध से तुम्हारा सम्बन्ध स्थापित होगा, जिसके द्वारा तुम संयुक्त हो सकोगे, जिसके साथ तुम्हारा 'योग' साधित होगा, वह बोध मैं तुम्हें बताता हूँ, उसे सुनो। हे अर्जुन, यदि इस योग को सार्थक करनेवाला बोध तुम्हारे मन में बैठ गया, तो तुम कर्म के बन्धन से पूर्णतः मुक्त हो सकोगे।''

जिसे अपनाने से साधक कर्म-बन्धन को तोड़कर आत्मबोध से युक्त हो सकता है, वह प्रथमतः आत्मबोध के प्राप्ति का साधन तथा द्वितीयतः कर्मों में बोध लानेवाला है अर्थात् यह 'कर्मयोग' हम लोगों के समान स्वरूपभ्रान्त दुर्बल साधकों को क्रमशः शुद्ध कर स्वरूप-अनुभूति का पात्र बनानेवाला है।

उपरोक्त श्लोक के भाष्य के द्वारा यह परम सत्य बताते हुए श्री रामानुजाचार्य कहते हैं – **'एवम् आत्म-याथात्म्य-ज्ञानम् उपदिश्य, तत्पूर्वकं मोक्ष-साधनभूतं कर्मयोगं वक्तुम् आभरते। ... कर्मानुष्ठाने यो बुद्धियोगो वक्तव्यः, स इह योग-शब्देन उच्यते।'** – ''इस तरह आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान देकर भगवान अब इसी ज्ञान पर आधारित एवं मोक्ष का साधन 'कर्मयोग' बताते हैं – प्रत्यक्ष कर्म करते समय जिस बोध पर अधिकार रखना होगा, उसी को यहाँ 'योग' कहा गया है।''

इसी श्लोक को और भी स्पष्ट करते हुए अपनी 'सुबोधिनी' टीका में श्रीधर स्वामी कहते हैं – **'उपदिष्ट-ज्ञानयोगम् उपसंहरन् तत्साधनं कर्मयोगं प्रस्तौति।... एवम् अभिहितायाम् अपि सांख्यबुद्धौ तव चेत् आत्मतत्त्वम् अपरोक्षं न भवति, तर्हि अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा आत्मतत्त्वापरोक्षार्थं कर्मयोगे तु इमां बुद्धिं शृणु।'** – ''अब तक उपदेशित ज्ञानयोग का उपसंहार करके, भगवान उस ज्ञानयोग के साधन-रूप कर्मयोग को प्रस्तुत करते हैं। (वे अर्जुन से कहते हैं कि) मेरे द्वारा आत्म-स्वरूप के बारे में बताने पर भी यदि तुम्हें आत्मा की अर्थात् अपने सत्य-स्वरूप की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं होती, तो अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा आत्मा की वैसी प्रत्यक्षानुभूति के लिए यह कर्मों में बोध या कर्मयोग मैं तुम्हें बताता हूँ, उसे सुनो।''

– ८ –

इस अति महत्वपूर्ण श्लोक का गूढ़ार्थ बताते हुए भगवत्-पाद आचार्य शंकर अपनी प्रसन्न-गम्भीर शैली में कहते हैं – **'एषा ते तुभ्यम् अभिहिता उक्ता सांख्ये परमार्थ-वस्तुविवेक-विषये बुद्धिः ज्ञानं साक्षात् शोक-मोहादि-संसार-हेतु-दोष-निवृत्ति-कारणम्। ... योगे तु तत्प्राप्त्युपाये निःसंगतया द्वन्द्व-प्रहाण-पूर्वकम् ईश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे च इमाम् अनन्तरम् एव उच्यमानां बुद्धिं शृणु।'** अर्थात् – ''हे अर्जुन, विवेक के द्वारा असत्य का नाश करके अन्तिम सत्य का लाभ करानेवाला ज्ञान मैंने तुम्हें बताया। जन्म-मृत्यु की अविराम शृंखला के कारणीभूत होनेवाले शोक-मोह आदि दोष इस ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से दूर होते हैं। ... परन्तु जिस उपाय से यह ज्ञान अन्तःकरण में उदित होता है, अब मैं तुम्हें वह कर्मयोग बताता हूँ, सुनो। हे अर्जुन, इस कर्मयोग में सब प्रकार की आसक्ति को छोड़कर, अनुकूलता या प्रतिकूलता से विचलित हुए बिना, ईश्वर की आराधना के निमित्त कर्म का आचरण करना पड़ता है।''

* * *

आगे भगवान ने स्वयं ही अर्जुन को इस 'कर्मयोग' का सार, स्वरूप तथा कार्य बिल्कुल अल्प शब्दों में बताया –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।

– 'जिससे ये सारे प्राणी उत्पन्न हुए हैं और जिसने इस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर रखा है – जो सर्वत्र ओतप्रोत है, व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने अपने कर्मों द्वारा अर्चना कर मानव सिद्धि को प्राप्त होते हैं।'

यही 'कर्मयोग' प्रभु के दिव्य संवाद-प्रवाह में यथास्थान '**ब्रह्मणि आधाय कर्माणि**' (ईश्वर को समर्पणपूर्वक कर्म) '**कर्मणि अकर्म**' (मै नही, प्रभो, तू ही सच्चा कर्ता है, इस बोध से कर्म), '**निमित्तमात्र**' होकर अर्थात् 'मैं यंत्र, तुम यंत्री' – बोध से किया गया कर्म, 'योगस्थ' होकर किया गया कर्म आदि शब्दों द्वारा वर्णित तथा प्रशंसित हुआ है।

– ९ –

इस प्रकार अविराम जन्म-मृत्यु के चक्र के लिए कारणीभूत आसक्ति-मोह-अविवेक आदि दोष जिस 'अहं-मम' रूप भ्रान्तिबोध से उत्पन्न होते हैं, उन्हें सदा के लिए दूर करने हेतु उपाय के रूप मे 'आत्मज्ञान' और उस उपाय को आत्मसात करने के साधन के रूप में 'कर्मयोग' – प्रभु ने अर्जुन को बताया।

भगवान ने हम लोगों के समान सभी स्वरूपच्युत दुर्बल लोगों को यह अमोघ, सदय आशीर्वाद दिया है कि इस कर्मयोग रूपी साधन के द्वारा अहं-मम-भ्रान्ति को दूर करने का एकमेव उपाय रूप 'आत्मज्ञान' साधक के अन्तर में यथासमय अवश्य 'जाग्रत' होगा। भगवान कहते हैं –

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादात् अवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।

– " 'मैं-मेरा' का आश्रय छोड़कर 'प्रभो, तू-तेरा' – इस सत्य अर्थात् ईश्वर का आश्रय लेकर सभी कर्मो को करनेवाला मेरे आशीर्वाद तथा अनुग्रह से शाश्वत पद को प्राप्त करता है।"

प्रभु ने यहाँ असन्दिग्ध रूप में 'अवाप्नोति' (इस प्रकार कर्म करनेवाला शाश्वत पद को प्राप्त होता है) – कहा है, 'अवाप्नोषि' (तुम प्राप्त करोगे) – नहीं कहा है। इस प्रकार यह अभयदायी परम मंगल आशीर्वाद उन्होंने सिर्फ अपने प्रिय शिष्य अर्जुन तक ही सिमित नहीं रखा। वह अर्जुन के समान ही हम लोगों जैसे सभी भाग्यशाली दुर्बलों के भी हिस्से में आया है।

– १० –

इस तरह आसक्ति-शोक-मोह-आदि की अनर्थ-श्रृंखला के कारणीभूत – 'मैं-मेरा'-रूप भ्रान्तिबोध को दूर करनेवाले 'आत्म-याथात्म्य-ज्ञान' या 'परमार्थ-दर्शन' या 'चिद्विलास-बोध' आज यदि साधक में न भी हो, तथापि 'कर्मयोग' के अनुष्ठान से वह क्रमशः अन्तःकरण में जाग्रत होगा, ऐसी दिलासा देकर भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं –

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।

– "हे अर्जुन, (स्वकर्म की अनुकूलता-प्रतिकूलता के बारे में उदासीन रहकर अर्थात् द्वन्द्व-भावना-रहित होकर, फल की आसक्ति छोड़कर, ईश्वरोपासनार्थ 'प्रभो, मैं और मेरा नहीं, बल्कि तू और तेरा, इस यंत्र-यंत्री बोध से) कर्मयोग का आचरण करते समय यह परम सत्य कदापि मत भूलना कि 'कर्मयोग' का महत्वपूर्ण एवं मूलभूत सिद्धान्त 'कर्म' नहीं – 'योग' है। हे अर्जुन, कर्मयोग के 'मैं-मेरा नहीं, प्रभो, तू-तेरा' – इस आन्तरिक बोध की अपेक्षा बाह्य कर्म अति निकृष्ट हैं। "इस कारण कर्मयोग का आचरण करते समय उसमे इस बोध का आश्रय लेने का, उस बोध में स्थिर रहकर ही कर्म करने का यत्न कर। क्योंकि हे अर्जुन, जो लोग इस 'प्रभो, तू और तेरा ही' इस बोध की उपेक्षा कर 'मैं और मेरा' बोध से कर्म करते है, वे लोग निकृष्ट होत हे – 'मै यह काम कर रहा हूँ, उसका अमुक फल मै भोगूँगा' – उनकी इस तरह की कर्मफल की लालसा उन्हें दीन बना देती है। और जैसा कि स्वाभाविक है, उनका अहं-मम-जन्य आसक्ति-शोक-मोहादि अनर्थ-श्रृंखला के चंगुल से छूटना कदापि सम्भव नही है।"

ठीक ही तो है!' कर्मयोग' के अनुष्ठान के फलस्वरूप चित्तशुद्धि होकर हृदय में धीरे धीरे चिद्विलास का बोध जाग्रत होने लगता है, परन्तु वह 'कर्म' के कारण नहीं, बल्कि उसके द्वारा ईश्वर से साधे जानेवाले 'योग' के कारण। अन्यथा खेतों, कारखानों तथा कोर्ट-कचहरी में साल-दर-साल काम करनेवाले सभी लोग अपने आप मुक्त हो गए होते!

चीनी के लेप से युक्त दवा की गोलियों से रोग दूर होता है, वह उन गोलियो के बाहर स्थित चीनी से नही, बल्कि चीनी के अन्दर स्थित औषधि से होता है। नहीं तो, लोग रोग दूर करने के लिए केवल शक्कर ही फाँकने लग गए होते।

और इस कारण योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग में स्थित 'योग' या 'बोध' की महिमा इस प्रकार बिल्कुल स्पष्ट करके बतला दी।

– ११ –

परन्तु अर्जुन पर इस कथन का कुछ दूसरा ही परिणाम हुआ। उन बेचारे को लगने लगा कि कर्म की अपेक्षा यदि 'बोध' ही इतना महत्वपूर्ण है और बोध' की तुलना में यदि कर्म बिल्कुल ही तुच्छ है, तो फिर मुक्ति के आकांक्षी व्यक्ति क्यो न अपने अहं-मम को दूर करके, सीधे सीधे इस 'बोध' को ही अपने अन्तःकरण में स्थापित करने का प्रयत्न करे? – व्यर्थ कर्म के लिए यह निरर्थक परिश्रम क्यों किया जाय?

बेचारे अर्जुन! वे अपने मन में उदित इस प्रश्न को पुनः भगवान के समक्ष रखते हुए कहते हैं –

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिः जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोर मां नियोजयसि केशव।।

– "हे केशव, हे जनार्दन, यदि आपका यह दृढ़ मत है कि कर्म की अपेक्षा बोध श्रेष्ठ है, तो फिर आप मुझे इस भीषण युद्धरूपी कर्म में क्यों ढकेलना चाहते हैं? (इस क्रूर कर्म को छोड़कर सीधे उस 'बोध' में ही लीन होने का प्रयत्न करना क्या उचित और श्रेयस्कर नही होगा?)" ❖ **(क्रमशः)** ❖

स्वामी विवेकानन्द जी की दृष्टि में वेदान्त

स्वामी मेधानन्द पुरी
श्री कैलाश आश्रम, ऋषिकेश

जर्मन दार्शनिक मैक्समूलर ने वेदों का महत्त्व बताते हुए लिखा है – "भारतीय ऋषि-महर्षियों ने वेदों के लेखन में जिस विचारशीलता का परिचय दिया है, यदि ऐसा ही प्रयत्न पाश्चात्य दार्शनिक करते, तो निश्चय ही वेदों की उत्कृष्टता को स्पर्श करने के पूर्व ही उनका हृदय विदीर्ण हो जाता।"

ऐसे ही एक भारतीय महर्षि थे स्वामी विवेकानन्द, जिन्होंने मानव-मात्र की आध्यात्मिक उन्नति के लिए सम्पूर्ण विश्व में अलख जगाई। स्वामी विवेकानन्द का अद्भुत चिन्तन हमारे लिए वेदों, उपनिषदों की अभिनव व्याख्या प्रस्तुत करता है।

हमारे लिए सर्वप्रथम वेद-उपनिषद के आशय को समझ लेना उचित होगा। **वेदानाम् अन्तः वेदान्तः** अर्थात् वेदों के अन्तिम भाग को वेदान्त कहते हैं। इसी प्रकार एक अन्य व्याख्या के अनुसार **वेदान्तो नाम उपनिषदः** – उपनिषदों को ही वेदान्त कहते हैं। भाषा-वैज्ञानिक उपनिषद् शब्द की व्याख्या कुछ इस प्रकार करते हैं – उप-नि-सद्-क्विप्। इसका सार है ब्रह्मज्ञान। सभी उपनिषदों के प्रारम्भ में ही **अध्यारोपवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते** – इस साम्प्रदायिक रीति का अनुसरण कर सर्वप्रथम तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रपंच बतलाया गया, पुनः तदुपरान्त प्रपंच को अपवाद कहकर ब्रह्माण्ड में निर्गुण-निराकार ब्रह्म को स्थापित किया गया है। वेदों की व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है – **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः** – ऋषिगण ही मन्त्रों के भाव का अनुभव करते हैं। वेदों का अन्तिम सन्देश भी यही है – **नेति नेति** अर्थात् केवल मूर्त-अमूर्त पदार्थ, जैसे पृथ्वी-जल से लेकर वायु-आकाश आदि तक ही ब्रह्म नहीं है, अपितु समस्त स्थल एवं सूक्ष्म भूत तथा वर्तमान तत्त्वों का अधिष्ठान व मूल कारण ब्रह्म ही है, क्योंकि बिना अधिष्ठान के अध्यारोप नहीं होता है। इसलिए निराकार-निर्गुण ब्रह्म ही समस्त प्रपंच, लोक, देवता तथा प्राणियों का आधार है। अस्ति-भाति-प्रियम् आदि नाना रूपों में भी वही परमात्मा है। अमुक वस्तु है (अस्ति), अमुक वस्तु दीख रही है (भाति), अमुक वस्तु प्रिय है (प्रियम्) – ये समस्त लक्षण सभी वस्तुओं में प्रकट होने पर भी समस्त वस्तुएँ अपना नाम-रूप बदलती रहती हैं और बदलनेवाली वस्तु कदापि ब्रह्म नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्म अनित्य नहीं, अपितु नित्य है। इस तथ्य की पुष्टि भगवान आद्य शङ्कराचार्य इस प्रकार करते हैं – **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः** – ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, कोई अन्य नहीं। अस्तु, यही उपनिषदों का सार भी है।

श्रीमद्-भगवद्-गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने उपनिषदों का सार इस प्रकार व्यक्त किया है – **अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम्** – अर्थात् यह लोक दुःखस्वरूप तथा अनित्य है। तुलसीदास जी ने भी इन्हीं विचारों की पुष्टि करते हुए 'रामचरित-मानस' में लिखा है –

उमा कहऊँ मैं अनुभव अपना।
सत हरिभजन जगत् सब सपना।।

यह सर्वथा सत्य है कि जगत् दो दिन का खेल है तथा इस जगत् में जीवन क्षणभंगुर है। अब प्रश्न यह है कि इस संसार में रहते हुए इस मिथ्या एवं क्षणभंगुर जीवन से कैसे छुटकारा पाया जाए? स्वामीजी सम्भवतः **'विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।"** – इस गीतावाक्य से प्रेरित हुए होंगे, तभी तो उन्होंने वेदान्त को जनमानस तक पहुँचाने के लिए कहा, **'शिवज्ञानेन जीवसेवा'** – शिवबोध से जीवों की सेवा करो। स्वामीजी की यह सूक्ति वेदान्त की आधुनिकतम व्याख्या का मार्ग प्रशस्त करती है।

मन एवं कर्म की शुद्धता का अपना अलग ही महत्त्व है। इसलिए कहा जाता है कि यदि कोई मनुष्य अशुद्ध मन से मन्दिर या तीर्थ में जाता है, तो उसके पाप और बढ़ जाते है। परन्तु पवित्र लोगों के निवासस्थान में कोई मन्दिर न भी हो, तो वह स्थान तीर्थ बन जाता है – **'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि'** – पवित्र लोग तीर्थों को भी पवित्र कर देते हैं। जहाँ एक ओर पवित्र-आत्मा जीवन्मुक्त व्यक्ति द्वारा गंगा में स्नान करने से माँ गंगा के समस्त पाप धुल जाते हैं, वहीं दूसरी ओर तीर्थस्थान में किया हुआ पाप कभी दूर नहीं किया जा सकता। सभी उपासनाओं का सार यही है कि मनुष्य सदैव शुद्ध एवं दूसरों के प्रति सहिष्णु रहे। श्रीमद्-भगवद्-गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'**, **'कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्'**, **'योगः कर्मसु कौशलम्'** – "तुम्हारा केवल कर्म में ही अधिकार है, फल में कदापि नही, इसलिए तुम कर्म ही करो, कर्मों में कुशलता को ही योग कहते है।" गीता की इन पंक्तियों से कर्मयोग की प्रेरणा मिलती है। स्वयं इन पंक्तियों से अभिभूत होकर महान् कर्मयोगी स्वामी विवेकानन्द जी ने **'शिवज्ञाने जीवसेवा'** – रूप वेदान्त का एक अभिनव दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। स्वामीजी के इस सूत्र में बड़ी भारी गूढ़ता निहित है। प्रत्येक व्यक्ति सामान्यतया पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा, लोक-प्रतिष्ठा आदि की इच्छा को छोड़ नही पाता। वह निष्काम भाव से श्रुतियों व स्मृतियो मे निर्दिष्ट

वर्णाश्रम धर्म का पालन करे; फल की आकांक्षा न करें एवं कर्तृत्व व भोक्तृत्व का अभिमान छोड़ दे। ऐसी स्थिति आने पर अन्त:करण की ऐसी शुद्धि होगी कि वह विवेक-वैराग्य प्राप्त करके सांसारिक मायाजाल से जल्दी ही मुक्त हो जाएगा। **'ब्राह्मणो निर्वेदमायात्', 'यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन'** – अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासु लोग यज्ञ, दान, तप आदि करके वैराग्य प्राप्त करे। किन्तु इन कर्मो को निष्काम भाव से करने की आवश्यकता है, क्योंकि जब कभी मनुष्य की शुद्धता की बात आएगी, पहले कर्म पर अवश्य विचार होगा। श्रीकृष्ण जैसे कर्मयोगियो से कौन परिचित नही होगा? उन्होंने कई युद्ध जीते, पर मन में राज्य करने की भावना जाग्रत नहीं होने दी, फल की आकांक्षा नहीं आने दी। युद्ध के बाद कर्तव्य, अभिमान व अहंकार को छोड़ घोड़ों की सेवा करते रहे। इतना ही नहीं, अश्वमेध मे निर्विकार भाव से जूठे पत्तल भी उठाये। श्रीकृष्ण का जीवन निष्काम कर्म का अनूठा उदाहरण है।

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द भी कर्म को ही पूजा मानते थे। गीता में कर्मयोग के अनेकानेक उदाहरण हैं, जैसे – सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु, जनक आदि, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में एक ज्वलन्त उदाहरण राजा अश्वपति केकय का है। उन्होंने दावे के साथ कहा कि मेरा राज्य चोरों से रक्षित है, धनवान कृपण नहीं है, कोई मद्यपान करनेवाला नहीं है, कोई अविद्वान् तथा परस्त्री-गामी भी नहीं है। आजकल के राजनेता क्या इस प्रकार का दावा कर सकते हैं? इतने सारे गुणो की बात ही नही, एक भी गुण पर खरे उतर जाएँ, यह बहुत बड़ी बात होगी। वह भी कर्म का ही फल है कि राजाओं ने ऋषियो को उपदेश दिया। उदाहरण के रूप में उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, पुलस् का पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि का पौत्र इन्द्रद्युम्न, शांकराक्ष्य का पुत्र जन तथा अश्वराज का पुत्र बुडिल। इन सब ब्राह्मणो ने एक क्षत्रिय राजा अश्वपति केकय से उपदेश ग्रहण किया। यह कर्म की पराकाष्ठा ही है कि राजा समस्त राजकाज कुशलता से निर्वहण करते हुए भी ब्रह्मविद्या का उपदेश देते है। **शिवज्ञाने जीवसेवा** – के मर्म को समझने के लिए कर्म की महिमा को ममझना आवश्यक है। अत: तथ्यो की पुष्टि के लिए शास्त्रसम्मत दृष्टान्त प्रस्तुत करना भी आवश्यक हो जाता है। इसी क्रम मे अपूर्वता के विषय में कुछ तथ्य प्रस्तुत करना चाहूँगा।

प्रसंगवश मै यहाँ स्वामीजी द्वारा रामेश्वरम्-मन्दिर में प्रदत्त भाषण के अंश उद्धृत करना चाहूँगा। वहाँ उन्होने कहा था – "जो व्यक्ति निर्धन, दुर्बल तथा रुग्ण व्यक्ति मे शिव के दर्शन करता है, वही उस व्यक्ति की अपेक्षा शिव का बड़ा उपासक है, जो केवल मूर्ति मे ही शिव के दर्शन करता है। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति का ज्ञान अभी पूर्णता को प्राप्त नही हुआ है। यदि कोई व्यक्ति किसी जातिगत ऊँच-नीच के भेद का विचार किए बिना ही किसी निर्धन व्यक्ति की सेवा-शुश्रूषा करता है, तो भगवान शिव निश्चित ही उससे प्रसन्न होते हैं। केवल मन्दिर मे शिवजी के दर्शन करनेवाले से वे शायद ही प्रसन्न हो।

"इस सन्दर्भ में एक धनवान व्यक्ति की कथा भी स्मरणीय है। एक धनी व्यक्ति के एक बगीचा था, जिसमे दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा सुस्त और आलसी था, परन्तु जब कभी वह अपने मालिक को आते देखता, तो झट उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, "मेरे स्वामी का मुख कितना सुन्दर है" तथा उसके सम्मुख नाचने लगता। दूसरा माली ज्यादा बोलता न था, उसे तो बस अपने काम से काम था और वह बड़ी मेहनत करके बगीचे मे तरह तरह के फल-तरकारियाँ पैदा कर उन्हें सिर पर रखकर अपने मालिक के घर पहुँचा आता था। अब विचारणीय है कि मालिक दोनों मालियों मे से किसको अधिक चाहेगा? ठीक वैसे ही यह संसार एक बगीचा है जिसके मालिक शिवजी है। यहाँ भी दो प्रकार के माली है – एक सुस्त, अकर्मण्य तथा ढोगी है और कभी कभी शिव के सुन्दर नेत्र, नासिका तथा अन्य अंगो की प्रशंसा करना रहता है, जबकि दूसरा शिवजी के सन्तानो की, सभी दीन-दुखी प्राणियों की चिन्ता करता है। इन दोनों में से कौन शिवजी को अधिक प्यारा होगा? निश्चय ही वही जो उनकी सन्तान की सेवा करता है। अत: जो शिवजी की वास्तविक सेवा करना चाहता है, उसे उनकी सन्तानो की, विश्व के प्राणीमात्र की सेवा करनी चाहिए।"

अपूर्वता की पुष्टि में एक अन्य प्रसंग महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त एकनाथ का है। सन्त एकनाथ गंगोत्री से गंगाजल लेकर भगवान रामेश्वर को चढ़ाने के लिए चले, परन्तु रामेश्वर से कुछ ही दूर पहले उनसे गरमी से प्यास के मारे तड़पते गधे की हालत देखी न गई, इसीलिए उसे ही शिव का स्वरूप मानकर उन्होंने उसे सारा गंगाजल पिला दिया। साथी मना करते रहे, पर एकनाथ जी पर कोई असर नहीं हुआ। सन्त एकनाथ जी की भावना से शिवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं उन्हे वहीं दर्शन दे दिया। यहीं स्वामी विवेकानन्द जी के सूत्र-वाक्य का महत्व है। नामदेव जी के विषय में भी ऐसा ही एक प्रसंग प्रसिद्ध है। रोटी उठाकर भागने वाले कुत्ते के पीछे वे स्वयं घी की कटोरी लेकर दौड़ पड़े थे। यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि जो व्यक्ति स्वामी विवेकानन्द जी के सूत्रवाक्य का अक्षरश: पालन करेगा, उसे पूर्वोक्त सन्तो की भाँति सर्वत्र नारायण के दर्शन अवश्य होगे। जब सर्वत्र वासुदेव के दर्शन होने लगे, तो किसके लिए क्या इच्छाएँ करना? समस्त इच्छाएँ स्वत: समाप्त हो जाएँगी और ऐसा साधक जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेगा। **शिवज्ञाने जीवसेवा** – सूत्र के अनेक गौण-फल भी हैं। उचित औषधालय, अस्पताल, स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय, अनेकविध कलाकेन्द्र एवं आधिभौतिक तापो से पीड़ित लोगो को राहत पहुँचाना आदि – इन सब कार्यो मे

सेवा देनेवाले प्रवृत्त तथा निवृत्त साधकों की उन्नति भी फल है। ऐसे में सेवा-परायण साधक स्वार्थ को त्यागकर नि:स्वार्थ बनते जाएँगे। यह नि:स्वार्थपरता ही धर्म की कसौटी है।

देश-विदेश में इस भाव का प्रचार तथा संस्तुति सर्वविदित है। भारत सरकार भी अनेक बार रामकृष्ण मिशन को अनेक पुरस्कार दे चुकी है। लोगों द्वारा की जानेवाली प्रशंसा का तो अन्त ही नहीं है। स्वामी विवेकानन्द जी के सूत्र-वाक्य के बारे में सहस्र-मुख शेषनाग भी बखान नहीं कर सकते, हम तो अकिंचन हैं। स्वामीजी निष्काम कर्म की पैरवी करते हैं। निष्काम प्रेम से माता-पिता, परिवार, बन्धु-बान्धव, लूले-लँगड़े, अन्धे-गूंगे, बीमार व्यक्तियों की सेवा करनेवाले एवं ग्रामवासी, नगरवासी, राष्ट्रवासी, इन सभी की सेवा करनेवाले विशालहृदया उस गृहस्थ की वही गति होगी, जो सम्पूर्ण कामिनी-कांचन आदि सांसारिक पदार्थों को त्यागकर सच्चा संन्यासी जीवन व्यतीत करनेवालों की होती है। इस प्रकार के कर्मयोग की प्रशंसा करते हुए स्वामीजी ने कहा है, ''निष्काम कर्मयोग ही सच्चा संन्यास है।''

स्वामी विवेकानन्द जी कहा करते थे कि यह संसार कायरों के लिए नहीं है। पलायन की चेष्टा मत करो। सफलता या असफलता की चिन्ता मत करो। पूर्ण निष्काम संकल्प में अपने को लयबद्ध कर दो तथा अपना कर्तव्य करते चलो। कर्म में तुम्हारा अधिकार है, पर इतने पतित न बनो कि फल की कामना करने लगो। अत: सत्कर्मों के बन्धनों में अथवा नाम और यश की कल्पना के बन्धन में मत फँसो। सच्चा संन्यासी रहता तो संसार में ही है, परन्तु उसका बन कर नहीं। कर्म के आवर्त तथा उन्माद के बीच दृढ़ रहो तथा केन्द्र तक पहुँचो, जहाँ से कोई तुम्हें विचलित न कर सके। आत्मपुराण में भी नाम, यश आदि छोड़ने के लिए ही कहा गया है –

प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा गौरवं घोररौरवम्।
अभिमानं सुरापानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।

– प्रतिष्ठा मानो सूअर का मल है, गौरव घोर रौरव नरक है, अभिमान सुरापान है – इन तीनों को त्यागकर सुखी हो बनो।

स्वामी जी के सूत्र '**शिवज्ञाने जीवसेवा**' – की व्याख्या करने के लिए अभी तक उपक्रम, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद आदि को समझाने का प्रयास किया गया है। इस सूत्र की सम्पूर्ण व्याख्या बिना युक्ति तथा उपसंहार के कैसे पूर्ण हो सकती है? अतएव इनके बारे में भी संक्षिप्त व्याख्या करने के बाद हम लेखनी को विराम देंगे।

इस सूत्र की महानता में यही युक्ति है कि इसकी सत्यता पार्थिवता पर आश्रित नहीं है। यह धर्म सच्चा है, क्योकि वह सभी को तीन दिनों के क्षुद्र इन्द्रिय-आश्रित सीमित संसार को ही अपना अभीष्ट और उद्देश्य मानने से मना करता है और इस संसार को महान् ध्येय मानने से इन्कार करता है। इस पृथ्वी का क्षुद्र क्षितिज, जो केवल कई हाथ ही विस्तृत है हमारे धर्म की दृष्टि को सीमित नही करता। हिन्दू धर्म तथा स्वामीजी का सूत्र इन्द्रियों की सीमा से भी आगे तक फैला है। वह देश-काल से भी परे है। वह दूर और सीमातीत स्थिति में पहुँचाता है, जहाँ इस भौतिक जगत् का कुछ भी शेष नहीं रहता और सारा विश्व-ब्रह्माण्ड ही आत्मा के दिगन्त-व्यापी महामहिम अनन्त सागर की एक बूँद के समान दिखाई देता है।

जो साधक स्वामी विवेकानन्द जी के इस सूत्र-वाक्य का आश्रय लेते हैं, वे इसके भावमात्र से ही मुक्ति की ओर अग्रसर हो जाते हैं – **यद्भावं तद्भवति**। आजकल के मिलावट एवं यूरिया से तैयार अन्न तथा बिना परिश्रम की कमाई का आहार खाकर साधक प्राचीन ऋषि-मुनियों की तरह घण्टो ध्यान मे नही बैठ सकते। इस युग के अनुसार निष्काम भाव से सेवा करके जल्दी लक्ष्य को पा सकते हैं। जहाँ उपपत्ति यह है कि जो इस सूत्र का आलम्बन करेगा, वह जीवन्मुक्ति पाएगा, जो नहीं करेगा वह प्रपञ्च के बन्धन में ही रहेगा। **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत** – व्यक्ति एक क्षण भी बिना कर्म के नहीं रह सकता। (गीता) उस स्थिति में अभिमान एवं स्वार्थपरता छोड़ने मात्र से जीवन्मुक्ति का आनन्द करतलगत आमलकवत् अनुभव करेगा। जो अपने भाव को बदलना नही चाहते हैं, वह कीचड़ मे पड़े हुए सूअर जैसे संसार के बन्धन में ही रहेगा। वह व्यक्ति मोहवश लकड़ी के स्थान पर मगरमच्छ को पकड़कर संसार रूपी नदी को पार करना चाहता है जो सर्वथा असम्भव बात है।

अन्त में स्वामीजी की वाणी को शाश्वत सत्य मानना ठीक होगा। स्वामीजी कहते हैं – 'सहायता' शब्द को सदा के लिए अपने मन से निकाल दो। तुम किसी की सहायता नही कर सकते। यह सोचना कि तुम सहायता कर रहे हो, महा अधर्म है, घोर ईश-निन्दा है। हमे इस ईश की आराधना करने की आज्ञा प्राप्त है – पूरे विश्व के प्रति यही आदर का भाव लेकर खड़े हो जाओ और तब तुम्हें पूर्ण अनासक्ति प्राप्त हो जाएगी।

हमें अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करनी होगी। महात्मा वही है जो श्रेष्ठ महाविद्वान् व्यक्ति, नीच, दुष्ट मनुष्य या क्षुद्रतम पशु में न तो महात्मा देखते है, न मनुष्य, न पशु, अपितु सभी से उसी एक ईश्वर को देखते हैं। इस जीवन में ही उन्होंने संसार पर विजय प्राप्त कर ली है और वे इस समता मे दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित हो गए हैं। '**शिवज्ञाने जीवसेवा**' – इस सूत्र के सूत्रधार स्वामी विवेकानन्द जी को शतकोटि नमन करते हुए मै अपनी लेखनी को विराम देता हूँ। ❑❑❑

गंगासागर मेला

बंगाल के दक्षिण-चौबीस-परगना जिले में स्थित मनसाद्वीप का रामकृष्ण मिशन आश्रम १९२८ ई. में अपनी स्थापना के थोड़े दिन बाद से ही गंगासागर मेला में आनेवाले तीर्थ-यात्रियों की विभिन्न प्रकार से सेवा करता आया है। प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी यात्रियों के भोजन और आवास आदि की व्यवस्था के लिए नि:शुल्क शिविर लगाए गये थे। शिविर में लगभग ५०० यात्री ठहरे। प्रतिदिन 'वचनामृत-पाठ', भजन, हिन्दी प्रवचन आदि के माध्यम से शिविर में विशेष आध्यात्मिक परिवेश निर्मित हुआ था। इस बार कोलकाता के रामकृष्ण मिशन सेवा-प्रतिष्ठान के सहयोग से मनसाद्वीप के आश्रम ने ३,४५२ रोगियों की चिकित्सा की तथा ठण्ड से पीड़ित १५० तीर्थयात्रियों को कम्बल प्रदान किया।

गंगासागर हिन्दुओं का पवित्र तीर्थ है। महर्षि कपिल मुनि ने यहाँ तपस्या कर सिद्धि प्राप्त की थी। कहते हैं कि राजा सगर के प्रपौत्र भगीरथ ने गंगा को मर्त्यलोक पृथ्वी पर लाकर कपिल मुनि के शाप से भस्मीभूत राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को गंगा के पावन जलधारा से पुन: जीवित किया था। उसके बाद से ही प्रति वर्ष पौष मास की मकर संक्रान्ति के अवसर पर इसके पवित्र जल में स्नान कर पुण्य प्राप्ति हेतु यात्रियों की काफी भीड़ होती रही है। इस अवसर पर भारत के लगभग सभी राज्यों से तीर्थयात्रियों का आगमन होता है। इस साल भी बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और उड़ीसा से आए हुए स्नानार्थियों की भीड़ अधिक थी। उनकी अपेक्षा पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और दक्षिण भारत के तीर्थयात्रियों की संख्या कम थी।

गंगासागर के दक्षिण-पूर्व भाग में कपिल मुनि का एक मन्दिर है। प्राचीन मन्दिर के जल में डूब जाने के कारण इस नए मन्दिर की स्थापना हुई। यहाँ पर कपिल मुनि, समुद्र और भगीरथ की मूर्तियाँ हैं। पहले प्रचलित अन्धविश्वास के कारण कोई कोई नि:सन्तान नारियाँ सन्तान प्राप्ति के लिए मनौती मानने के बाद अपनी प्रथम सन्तान को गंगासागर में समर्पण कर देती थीं। १८०९ ई. में लार्ड वेलेजली ने कानून बनाकर इस प्रथा को बन्द कर दिया। पहले के तीर्थयात्री पैदल या नाव से इस तीर्थ में स्नान आदि करने आते थे। ऐसी व्यवस्था कष्टकर और जोखिमभरी थी। सम्प्रति यातायात के साधनों की बड़ी सुविधा हो गयी है। अभी कोलकाता से बस या रेलगाड़ी द्वारा काकद्वीप, नामखाना तक जाकर, वहाँ से नाव या स्टीमर से गंगासागर पहुँचा जा सकत है। इसके अतिरिक्त कलकत्ता से नामखाना या काकद्वीप जानेवाली बस से 'नतून रास्ता' पड़ाव पर उतरकर, वहाँ से बस या रिक्शा द्वारा अथवा लांच से नदी पार करके कोचुबेड़िया आना पड़ता है। कोचुबेड़िया से गंगासागर मेला जाने के लिए बस मिलती है।

गंगासागर की भौगोलिक और ऐतिहासिक स्थिति विशेष तात्पर्यपूर्ण है। यह सागरद्वीप के दक्षिण भाग में स्थित एक ग्राम है, किन्तु तीर्थ-माहात्म्य की दृष्टि से ५९४ वर्ग किलोमीटर में फैला यह पूरा द्वीप ही 'गंगासागर' के नाम से जाना जाता है। इसके उत्तर-पश्चिम में हुगली नदी है, दक्षिण में बंगाल की खाड़ी है। बहुत से लोगों का कहना है कि इस द्वीप में राजा प्रतापादित्य की राजधानी थी। इसके उत्तर भाग में वन के मध्य भाग में स्थित भग्न ईंटों के भवन और प्राचीन मन्दिरों को देखकर लगता है कि यह पहले बहुत ही समृद्धशाली द्वीप था, परन्तु १६८८ ई. में भयंकर बाढ़ से यह द्वीप निर्जन और श्रीहीन हो गया। उसके बाद अँग्रेजों के द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से इसमें अनेकों विकासमूलक कार्य होने लगे। इसी कारण १८०८ ई. में यहाँ पर एक लाइट हाउस (दीप-स्तम्भ) का निर्माण हुआ। इसके बाद १८११ ई. से लोगों ने इस द्वीप पर आकर बसना आरम्भ किया। इन्हीं विकास-कार्यक्रमों से गुजरते हुए प्रगति योजनाओं के माध्यम से वर्तमान जंगल को साफ करके कृषि-कार्य हो रहा है तथा लाखों लोगों की बस्ती भी हुई है।

वर्तमान मेले में तीर्थयात्रियों की यात्रा सुगम करने के लिए अनेक सड़कों का निर्माण हुआ है और यान-वाहनों की संख्या भी प्रचुर है। इसलिए इस वर्ष मेले में प्राय: तीन लाख पचीस हजार यात्रियों का समागम हुआ था। निर्धन तथा मध्यम वर्ग के यात्रियों की भीड़ अधिक थी। विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं एवं तीर्थयात्रियों का आगमन भी हुआ था। तीर्थयात्रियों की सुव्यवस्था के लिए इस वर्ष पश्चिम बंगाल सरकार ने लगभग ८ करोड़ रुपये खर्च किये। सागरद्वीप के रामकृष्ण मिशन मनसाद्वीप आश्रम का इतिहास बँगला मासिक 'उद्बोधन' के विगत दिसम्बर २००२ के अंक में प्रकाशित हुआ है। ❑ ❑